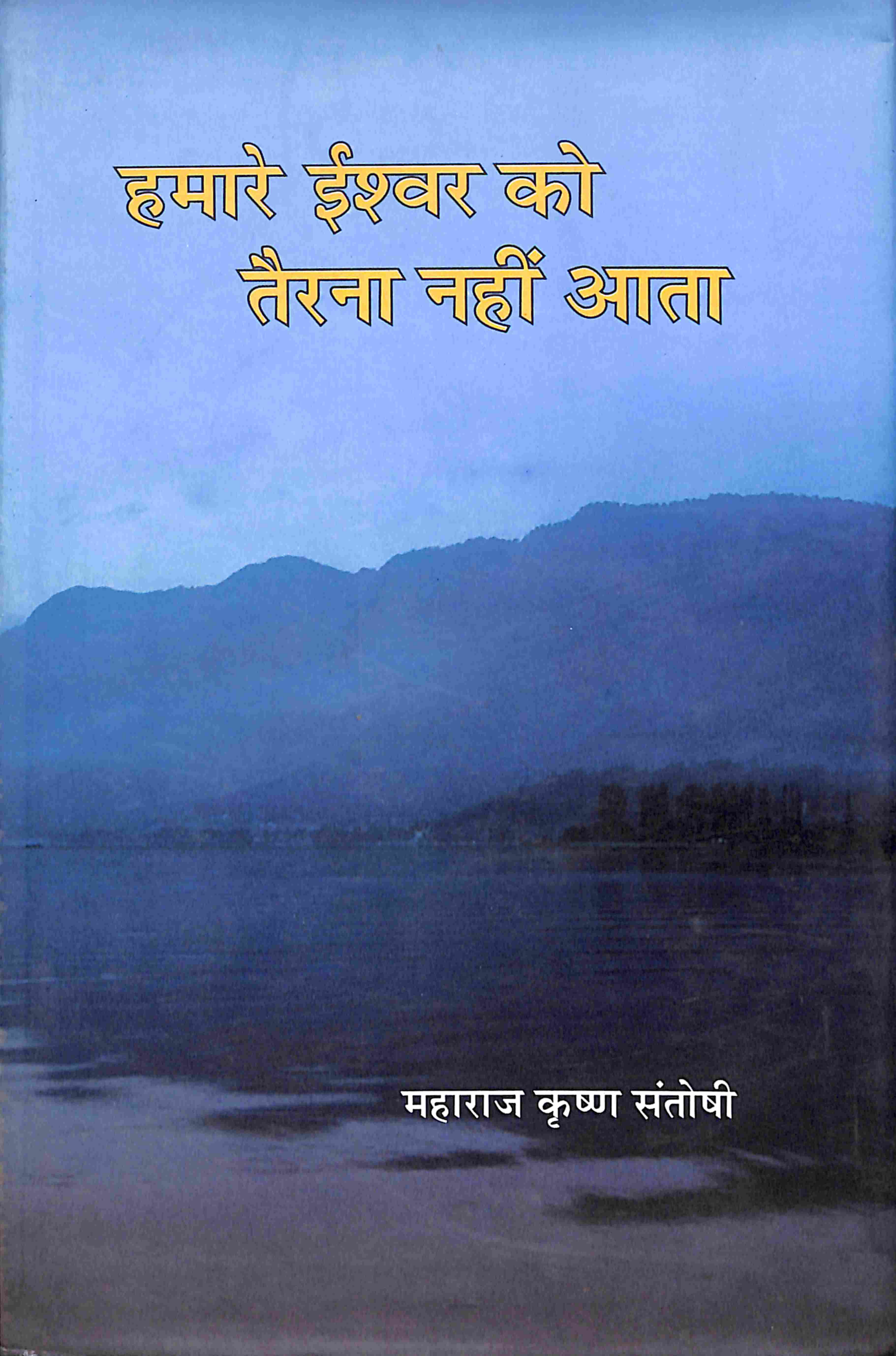


हमारे ईश्वर को तैरना नहीं आता

महाराज कृष्ण संतोषी

with regards to

Dr. R. L. Bhat,

a fellow writer

[signature]

हमारे ईश्वर को तैरना नहीं आता

हमारे ईश्वर को तैरना नहीं आता

महाराज कृष्ण संतोषी

UNISTAR

Fiction/Short Hindi Fiction

Hamare Ishwar Ko Tairna Nahi Ata

by

Maharaj Krishan Santoshi

113-A/4, Anand Nagar, Bohri (Talab Tillo)

Jammu Tawi-180002, Ph.0191-2505033

E-mail-mk_santoshi@rediffmail.com

2009

Published by Unistar Books Pvt. Ltd.

S.C.O. 26-27, Sector 34 A, Chandigarh-160022

India

Ph.0172-5077427, 5077428

Punjabi Bhawan Ludhiana, 98154-71219

visit us at : www.unistarbooks.com

Type Setting & Design PCIS

Printed & bound at Unistar Books (Printing Unit)

11-A, Industrial Area, Phase-2, Chandigarh (India)

98154-71219

कश्मीर से प्यार करने वाले तमाम
लोगों को

विषय सूची

हमारे ईश्वर को तैरना नहीं आता

मैं यह मानता हूं कि जिंदगी में सब को, कम-से-कम, तैरना और साइकिल चलाना सीख लेना चाहिए। मेरे इस विश्वास का क्या आधार है, मैं स्वयं नहीं जानता। शायद इससे आदमी में आत्मविश्वास पैदा होता हो।

मेरे दोनों बच्चे तैरना और साइकिल चलाना जानते हैं। तैरना उन्होंने कश्मीर में ही सीखा था, लेकिन साइकिल चलाना विस्थापित होकर जम्मू में। कश्मीर की गीली हरियाली में साइकिल चलाने का अपना ही आनंद होता था। सड़कें ऊबड़-खाबड़ होकर भी उतनी निर्दयी न थीं। बस पैडल मारते जाइए और कुछ हसीन भी सोचते जाइए या सामने आती किसान लड़कियों को देख कर गुनगुनाना ही शुरू कर दीजिए। तब सारा सौंदर्य तुम्हारे भीतर तरंगित हो उठेगा। लड़कियां शहरी कामुकता से तुम्हें नहीं देखेंगी। उनकी चंचल मुस्कानें तुम्हें सुरूर से भर देंगी और आसपास सारा वातावरण उनकी उपस्थिति से महक उठेगा।

कश्मीर की इस मनमोहक आबोहवा में कभी ऐसा भी कुछ हो जाता कि सारा माहौल तनावग्रस्त हो जाता। परस्पर सद्भाव छिन्न-भिन्न हो जाता और आंखों में अविश्वास उत्पन्न हो जाता। अपने करीबी परिचितों और दोस्तों तक में जुनून की लहरें उठने लगतीं। एक बार माजिद से मैंने कहा भी था,"अकेले में तुम कश्मीरी मुसलमान बहुत अच्छे होते हो, लेकिन..."

"लेकिन क्या?" उसने अधीर होकर पूछा था।

"भीड़ में तुम वहशी बन जाते हो," मैंने कहा था। वह यह सुनकर तिलमिला उठा था। उस दिन माजिद जितनी भी देर मेरे साथ रहा था, वह कुछ भी नहीं बोला। उसकी आंखों में मेरे प्रति तिरस्कार की एक भावना थी।

माजिद और मैं अक्सर कश्मीर के इतिहास और साहित्य-संस्कृति को लेकर चर्चा करते। हमारी यह चर्चा कभी-कभी जातिगत भी होती। लेकिन इन सबके बावजूद हमारी मित्रता में कोई फर्क नहीं आता। उस दिन बातों ही बातों में मैंने माजिद से कहा–

''तुम भी कभी हिंदू थे।'' 'तुम' से मेरा मतलब उसके पूर्वजों से था। उसने मूक सहमति में सर हिला दिया था।

''फिर आज हम और तुम अलग-अलग कैसे हुए?'' मैंने फिर छेड़ा।

''अलग-अलग तो हुए ही हैं''। उसके स्वर में दृढ़ता थी।

''कैसे?'' मैंने पूछा।

''हमने दूसरा धर्म जो अपना लिया है।''

''धर्म से क्या हमारा इतिहास भी अलग हुआ है?''

''अलग तो नहीं हुआ है, लेकिन हमसे कश्मीर का नया इतिहास शुरू हुआ है।''

''लूटने का, मंदिर तोड़ने का या फिर जबरन धर्म-परिवर्तन का इतिहास।'' मेरे स्वर में आक्रामकता थी।

''यही तुम पंडितों को बीमारी है। हमेशा इस्लाम का काला पक्ष प्रस्तुत करते हो। कभी इस्लाम को समझने की कोशिश भी करो।'' मैं संभल गया। मैंने सचेत होकर कहा, ''ऐसा नहीं है, मेरे दोस्त! इस्लाम के प्रति हमारे मन में बहुत सम्मान है, पर ऐसा है कि हम वह कहावत कभी नहीं भूले हैं...''

''कौन-सी कहावत?'' उसके स्वर में अधीरता थी।

''मुस्लिम शासन में हिन्दुओं के ग्यारह घर बचे रहने की कहावत...''

''तुम साले कश्मीरी पंडित, शुरू से ही भगोड़े थे... डरपोक थे...।''

मैं उसके 'डरपोक' शब्द पर हंसा। हंसते हुए कहना नहीं भूला कि पंडित से दोस्ती अजगर से दोस्ती। किचन से हमारी तरफ मछली पकने की मिर्चीयुक्त भाप आ रही थी। उस भाप के कारण मैं अपने भीतर एक विचित्र स्वाद महसूस कर रहा था।

"लिदर की मछली है न?" कमरे में बजते सूफियाना संगीत के बीच मैंने कहा।

"हां, कादिर ने पकड़ी है।"

"कभी हमारे लिए भी कुछ..."

उसने मुझे वाक्य पूरा करने नहीं दिया।

"लिदर सिर्फ हम मुसलमानों की नदी नहीं है।" उसके स्वर में शरारत थी।

"क्या मतलब?" मेरे स्वर में नाटकीयता थी।

"तुम खुद भी कभी नदी के ठंडे पानी में उतरा करो।"

"तुम मुसलमान किसलिए हो?" मैंने छेड़ने की नीयत से कहा।

"वे दिन गए, जब हम तुम्हारे घोड़े की लगाम पकड़े होते और तुम हमारे कंधे पर अपने पांव रखकर घोड़े से नीचे उतरते।"

"हां, सचमुच ही वे दिन नहीं रहे, अब।" मैंने झूठा अफसोस प्रकट करते हुए कहा।

अप्पा दूसरे कमरे से नमाज पढ़ कर आई थी। आते ही माजिद से कहा," पंडित जू को जाने मत देना। मैं उसके हिस्से का भी भात पका चुकी हूं।" यह कहकर वह गोशाला में गई। माजिद ने हसरतभरी निगाहों से मेरी तरफ देखा और कहा, "क्या खयाल है?"

मैं समझ गया।

"नहीं।"

"आधा-आधा पेग।"

"इस समय कहां से मिलेगा?"

"मेरे पास कोटा है।"

हम दोनों ने विह्स्की के दो-दो पेग पिए। खाना खाया। मछली और मूली का मेल लाजवाब था। आंसू छलक आने तक हमने उनका मिर्चीयुक्त स्वाद लिया। रात काफी हो चली थी। माजिद बाहर सड़क तक मुझे छोड़ने आया। आंगन से बाहर निकलते ही उसने गुनगुनाना शुरू किया...

‘‘हंगामा है क्यों बरपा, थोड़ी-सी जो पी है,

डाका तो नहीं डाला, चोरी तो नहीं की है...’’

माजिद गुलाम अली का फैन था। मैंने अक्सर उसे उसकी ग़ज़लें गुनगुनाते सुना है।

हमारे गांव में हिंदुओं और मुसलमानों की आबादी लगभग बराबर थी। कश्मीर में आबादी का यह तनास्सुब और कहीं नहीं था। इसलिए और जगहों की अपेक्षा यहां हिंदुओं में असुरक्षा की भावना कम थी। हमारे गांव में जो कोई भी अतिथि बनकर कुछेक दिनों के लिए आता, तो उदास मन ही वापस लौटता। दो-एक दिन में ही वह यहां के लोगों के साथ घुलमिल जाता। उसे यह अनुभव ही नहीं होता था कि वह कोई अजनबी है।

मुझे इस समय अपने गांव की रामलीला याद आ रही है। यह उन दिनों की बात है, जब गांव में दूरदर्शन का प्रवेश नहीं हुआ था और रामानंद सागर का सीरियल नहीं आया था। रामलीला वाले दिन कश्मीर में किसानों के खुशहाली वाले दिन होते हैं। फसल की कटाई हो चुकी होती है, कोठारों में धान भरा गया होता है। आबोहवा में ठंडापन आ जाता है और लिहाफ ओढ़ने वाली रातों का आगमन हो चुका होता है। रामलीला के पहले दिन से ही मुस्लिम घरों की स्त्रियां, बच्चे, युवक-युवतियां आना शुरू हो जाते हैं। रोज उनकी संख्या बढ़ती ही जाती। यह संख्या राम-रावण युद्ध तक आशातीत बढ़ जाती। वानर और राक्षसी मुखौटे पहने कलाकार अपने अभिनय से लोगों का भरपूर मनोरंजन करते। उन दिनों गांव का मनोरंजन ऐसी ही लीलाओं से होता था। मैं समझता था, ये मुस्लिम परिवार केवल मनोरंजन के उद्देश्य से ही रामलीला देखने आते होंगे, जो सोचना स्वभाविक भी था। बाद में मुझे यह देखकर सुखद आश्चर्य होने लगा कि वे रामलीला मंच से अपनी मन्नत मांगने की घोषणा करवाते और पूरी होने पर नियाज देने का वायदा भी पूरा करते। माइक थामे पृथ्वी नाथ शेर एक पेशेवर उद्घोषक की तरह ऐसे मुसलमान भाइयों का नाम लेते और लोग तालियां बजाते। दूरदर्शन के प्रवेश

ने गांव की रामलीला को ही गायब कर दिया.. रामलीला समिति के सदस्यों ने अपने छोटे-छोटे ग्रुप बनाकर श्रीनगर दूरदर्शन पर स्वतंत्र कार्यक्रम देने शुरू किए। अब जब रामलीला के दिन आते, तो गांव में वह पहले जैसी हलचल नहीं होती थी। एक दिन मैंने माजिद से कहा भी, ''कितने अच्छे थे वे दिन।''

''सचमुच, कितने अच्छे थे... चिनारों की खुली छांह में रामलीला देखने का अपना ही आनंद था,'' वह यह कहकर उदास हुआ था।

उस दिन मैंने माजिद को कितना चौंका दिया था।

''हममें परस्पर कितना प्यार है,'' मैंने कहा था।

''हां, है,'' माजिद ने हामी भरी थी।

''मगर तुम अपना गुस्सा हमारे ईश्वर पर क्यों उतारते हो?''

''मैं समझा नहीं?''

''मैं समझाता हूं। जब कभी कश्मीर में राजनीतिक तनाव वाली बात होती है, तुम हमारे मंदिरों पर अपना गुस्सा निकालते हो, उन्हें जलाते हो, यहां तक कि हमारे देवी-देवताओं को घसीट कर उन्हें दरिया में फेंकते हो...''

माजिद सोच में पड़ गया था। उसके पास कोई जवाब नहीं था। कश्मीर में हिंदुओं की आबादी नगण्य रही है। कभी भी उनकी किसी प्रतिक्रिया का सवाल ही नहीं था। शताब्दियों के उत्पीड़न ने हमें निकम्मेपन की सीमा तक कायर बना दिया है। यहां तक कि हमारी कायरता पर कश्मीर में कई चुटकुले प्रचलित हैं। कहते हैं, एक बार पठान हुकूमत में एक पठान ने किसी हिंदू स्त्री से उसके पति की उपस्थिति में ही बलात्कार किया। बलात्कार से पूर्व उसने पति के चारों ओर तलवार से एक दायरा खींच लिया था और पंडित जू से बाहर आने के लिए मना किया था। नहीं तो...

पठान के जाने के बाद पति अपनी पत्नी से बोला था,''पापी पठान कहीं का। कहता था, दायरे से बाहर मत निकलना। मैं तीन बार दायरे से बाहर निकला था...''

मैंने इस चुटकले पर केवल मुसलमानों को ही नहीं, बल्कि स्वयं पंडितों को भी ठहाका लगाते देखा है।

माजिद ने हमारे इतिहास को पढ़ा था। वह हमारी जाति संहार की कई कथाएं जानता था। धर्म-परिवर्तन के नाम पर हुए अत्याचार से कैसे इनकार कर सकता था। मैं उसे चिढ़ाने के लिए सिकंदर बुतशिकन का नाम लेता, तो वह भी कहता – 'जैनुलाब्दीन भी तो मुसलमान था।'

"हां, था," मैं सहमति प्रकट करता।

"उसने हिंदुओं को कश्मीर में पुनः नहीं बसाया?"

"हां, बसाया।"

"फिर?" उसके स्वर में गर्व होता।

"उसने हमें जरूर बसाया, लेकिन तुम्हारे हित के लिए..."

"हमारे हित के लिए?" वह विस्मित होकर पूछने लगता।

"यदि कश्मीर में हिंदू दोबारा नहीं बसते, तो जानते हो, कश्मीर में क्या होता?"

"क्या होता?"

"यहां शताब्दियों से शिया-सुन्नी फसाद हो रहे होते... हजारों-लाखों लोग मर गए होते...।" उसे मेरे इस इतिहास-बोध से दुख पहुंचता। वह गुस्सैल आंखों से मेरी तरफ देखता। मैं उसके गुस्से की परवाह किए बगैर कहता, "जब तक कश्मीर में हिंदू रहेंगे, कश्मीर में शिया-सुन्नी झगड़े कभी नहीं हो सकते... गुस्सा निकालने के लिए हम हिंदू जो हैं..." वह आगे कुछ और सुनने से इनकार करता। उसके बाद कई-कई दिन हम एक-दूसरे का मुंह तक नहीं देखते। एक दिन अचानक वह मेरे घर आता। आंगन में ही वह आवाज लगाता, "कहां है जनसंगी?" मैं उसकी आवाज सुनकर हंसता। मां से हालचाल पूछकर वह मेरे कमरे में आता। कमरे में दाखिल होते ही मैं उस पर झूठा गुस्सा निकालता, "मुझे जनसंगी कहते तुम्हें शर्म नहीं आती। मुझे

कम्युनिस्ट कहने में तुम्हें पीड़ा होती है।'' वह मेरे गाल पर हल्की-सी चपत लगाते हुए कहता, ''पंडित सिर्फ अवसरवादी होता है।''

''और तुम मुसलमान?'' मैं वापस चोट करता।

''सिर्फ मसखरे। हमने राजनीति में भी मसखरे पैदा किए हैं।'' वह मजाकिया अंदाज में कहता।

''ऐसा मत बोल, कुफ्र लगेगा।'' वह डरने का अभिनय करता। हम दोनों हंसने लगते।

दरिया में देवी-देवताओं की मूर्तियां फिंकवा दिए जाने पर वह हमेशा चुप रहता। मैं उसकी चालाकी समझ लेता। सन् 1986 के अनंतनाग के दंगों के बाद मैंने उसे एक दिन कहा था-''अब मुझे तुमसे वाकई डर लगने लगा है।''

''क्यों?'' उसके स्वर में उत्सुकता थी।

''तुम मुसलमान हो न।''

''पहले नहीं था क्या?''

''हां, थे।''

''तो?''

इस बार मैंने अपनी आंखों से तुम्हारे भीतर के जुनून को देखा है।

वह हंसा और प्रत्युत्तर में केवल इतना कहा-''डरना तुम पंडितों का जन्म-सिद्ध अधिकार है।''

''और लूट-मार करना तुम्हारा...।'' मेरी इस बात से वह काफी आहत हुआ था और मुझसे कई दिन नहीं मिला था।

उन्हीं दिनों हमारे गांव में पुरातत्व विभाग की तरफ से खुदाई-कार्य चल रहा था। एक दिन खुदाई के दौरान एक विशाल मूर्ति मिलने की खबर फैली। मुसलमान मजदूरों ने एहतियात के साथ इसे मिट्टी से बाहर निकाला। यह भगवान शंकर की खंडित मूर्ति थी। यह खबर फैलते ही गांव के बहुत-

से लोग देखने आए। शताब्दियों की धूल और मिट्टी ओढ़े होने पर भी वह मूर्ति अपनी भव्यता और दिव्यता में अनुपम थी। गांव के बुजुर्ग लोगों ने इसे अपने अधिकार में लेना चाहा, लेकिन पुरातत्व विभाग के अधिकारी इसे श्रीनगर के संग्रहालय में भेजने का फैसला ले चुके थे। इस फैसले से हिंदुओं को काफी निराशा हुई थी। गांव के मुस्लिम संप्रदाय में इस मूर्ति को लेकर तनाव-सा उत्पन्न हुआ था। कुछ लोग इसे इस्लाम के लिए बदशगुन मानने लगे थे, कुछ को इतिहास का अवांछित बोध हुआ था और कई इस मूर्ति को लेकर विचित्र मन:स्थिति में प्रतीत हो रहे थे।

उस शाम मैं माजिद के घर गया। मैं उससे मूर्ति के विषय में चर्चा करना चाहता था। नमकीन चाय की चुस्कियां लेते हुए मैंने बात छेड़ दी–"मूर्ति देखी?"

"हां, देखी।"

"कैसी लगी?"

"खूबसूरत।"

"जब यह बनी होगी, तो कारीगर ने कभी सोचा भी नहीं होगा कि इसका यह हश्र होगा।"

"कोई भी कारीगर अपनी मूर्ति का मुस्तकबिल नहीं जानता...।"

"सच! लेकिन जिन्होंने इस मूर्ति को तोड़ा होगा, वे कितने वहशी रहे होंगे।"

माजिद चुप रहा था। वह हमेशा अपना बचाव खामोश रह कर ही करता था।

मैं माजिद की चचेरी बहन से कैसे प्यार करने लगा था, मुझे खुद नहीं पता। हमारी यह मोहब्बत आंखों में अंकुरित होकर दिल में खिल गई थी, लेकिन अभी हमारा प्यार दूसरों पर प्रकट नहीं हुआ था। डर था कि भेद खुल गया तो हंगामा होगा। कश्मीर में जब कोई मुसलमान हिंदु युवती से प्यार करता तो वह काफी मुखरित होता, पर हिंदू लड़के को छिपकर मुसलमान लड़की से प्यार करना पड़ता था।

एक दिन मैंने मजाक में माजिद से अपनी यह इच्छा प्रकट की कि मैं किसी मुसलमान लड़की से विवाह करना चाहता हूं। वह बोला–''क्यों नहीं, लेकिन एक शर्त।''

''कौन–सी?'' मैंने उत्सुकता प्रकट की।

''तुम्हें मुसलमान बनना होगा,'' उसने गंभीर होकर कहा था।

''विवाह और मज़हब का क्या रिश्ता है?'' मैंने प्रतिरोध के स्वर में कहा था।

''रिश्ता हो या नहीं, पर कोई भी सच्चा मुसलमान तुम्हें इसी शर्त पर अपनी लड़की ब्याह देगा।''

''लेकिन यदि बेटी पहले से ही किसी काफिर को दिल दे बैठी हो, तो?''

''उसे इसकी सजा मिलेगी।''

''मगर क्या तुम भी किसी ऐसी सज़ा की पैरवी करोगे?'' मैंने पूछा था।

''हां, मैं क्या मुसलमान नहीं हूं,'' वह यह कहकर हंसा था, मगर उसकी हंसी से अप्रभावित मैं मन–ही–मन निःशब्द चिल्ला उठा कि जाओ और अपनी चचेरी बहन को सज़ा दे दो।

माजिद के चरित्र में एक अनोखा विरोधाभास था। वह कश्मीरी पंडितों का बहुत सम्मान करता था। उनकी बुद्धिमता से बहुत प्रभावित था वह। उनके रहन–सहन, घर–गृहस्थी और सौंदर्यबोध से ईर्ष्या की हद तक प्यार करता था, मगर वह उनका विरोध भी कम नहीं करता था। वह उन्हें चापलूस, मौकापरस्त और स्वार्थी मानता था। उनकी अत्यधिक भारतीयता पर उनसे घृणा करता था। हालांकि स्वयं पाकिस्तान नवाज़ भी नहीं था। मैं भी उसके इस छद्मविहीन व्यवहार का कायल था। तभी उसकी कही बातों से तनिक भी आहत नहीं होता। हमारे बीच सिर्फ आहत दिखने का झूठा अभिनय होता।

देखा–देखी में हमारे गांव की मस्जिदों में लाउडस्पीकर गरजने लगे थे। पंडितों ने पहले से ही लाउडस्पीकर पर भजन के कैसेट बजाने शुरू किए

थे। छुट्टी के दिन तो मंदिर में पूरे दिन कैसेट बजते। इस देखा-देखी में गांव के शांत वातावरण में ध्वनि-प्रदूषण की समस्या जैसी बन गई थी। कोई भी इस बात को किसी हद तक संप्रेषित नहीं कर पा रहा था कि प्रार्थना जितनी खामोशी से की जाए, उतनी ही असरदार होती है। मेरे पिताजी को जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने मुझे इस लाउडस्पीकर विरोधी अभियान के लिए लताड़ा और चेतावनी दी कि अगर मैं अपनी नास्तिकता से बाज नहीं आया, तो घर छोड़ कर कहीं भी दफा हो जाऊं -रूस या चीन, कहीं भी। (उन दिनों कश्मीर में कम्यूनिस्टों को इसी इस तरह के ताने सुनने पड़ते थे) मैंने माजिद से भी पता किया, तो उसने बताया कि अब्बा के सामने मुंह खोलने की उसकी हिम्मत नहीं हुई। उसके जमायते इस्लामी में शामिल होने से पहले ही अब्बा उससे खफा थे। पीर मुल्लाओं के खिलाफ उसकी बातों ने उन्हें पहले से ही मेरे प्रति कटु बना रखा था। इस बार लाउडस्पीकर के बारे में कुछ कहने पर पता नहीं, वह क्रोध में क्या कर जाते।

माजिद की चचेरी बहन से मेरा प्यार शुक्ल पक्ष के चंद्रमा की तरह बढ़ रहा था। उन्हीं दिनों गांव में एक ऐसी घटना हुई, जिसने सारी पंडित बिरादरी के मुख से जैसे चमक ही गायब कर दी हो। हुआ यह कि पंडित निरंजन नाथ कौल की बेटी सुशीला गांव के एक वगे मुसलमान घर के बेटे के साथ भाग गई। वह वगे परिवार काफी संपन्न था। लड़की के पिता का यह आरोप था कि वगे परिवार ने धन के प्रलोभन में उसकी बेटी को बरगला दिया था। वह यह मानने को तैयार ही नहीं था कि मुसलमान लड़के के साथ उसकी बेटी का चक्कर था। इस घटना से पंडितों में काफी क्षोभ पैदा हुआ। आपस में सलाह-मशविरा कर पंडित बुजुर्गों ने यह फैसला लिया कि गांव के मुसलमान बुजुर्गों के पास जाकर आपसी सुलह-सफाई करके लड़की को वापस अपने बाप को सौंप दिया जाए, लेकिन मुस्लिम बुजुर्गों ने इस मामले में हस्तक्षेप करने से इनकार कर दिया। मामले को डिप्टी कमिश्नर के पास ले जाने का

अंतिम निर्णय लिया गया, मेरे पिता भी डेप्यूटेशन के साथ जाने के लिए तैयार हो गए। मैंने पिता जी को उस डेप्यूटेशन के साथ जाने से रोकने की कोशिश की। ''क्यों?'' उनके स्वर में गुस्सा था।

''पिजा जी, उन दोनों में बहुत प्यार था...''

''तो क्या लड़की क़ो म्लेछों के घर में ब्याह दें,'' पिता जी ने मेरी बात बीच में ही काटते हुए कहा।

''पिता जी। अब भी ऐसी बातें सोचते हैं आप?''

''जा, दफा हो जा...,'' उन्होंने मेरी बात सुनने से ही इनकार कर दिया।

आगे बात बढ़ाना व्यर्थ था। मैं सुशीला के साहस को सराह रहा था मन ही मन।

पतझर कश्मीर का सुनहरा मौसम होता है। इस मौसम में चिनार अपने पत्तों पर अंगारों की सी सुर्खी धारण करते हैं। दूर से देखने पर ऐसा मालूम होता है, जैसे इन पत्तों पर आग ठहरी हुई हो। मैं इस मौसम से बेहद आकर्षित रहा हूं। पतझर की उस एक शाम सारा (माजिद की चचेरी बहन का नाम सारा ही था) मुझे अपने खेत के पास वाले चिनार के पास मिली। मैंने सारा की काली-काली आंखों में देखा, तो उनमें उदासी की उभरती हुई रेखा दिखाई दी। मुझे लगा कि जैसे वह किसी दुविधा में फंस गई हो।

''क्या बात है?'' मैंने पूछा

वह कुछ देर चुप रही, फिर धीरे-धीरे बोलने लगी... ''अब्बा मेरे विवाह की बात चला रहे हैं। शायद कुछेक दिनों में मेरी सगाई भी हो...।''

''तो तुम्हें खुश हो जाना चाहिए,'' मैंने मजाक के स्वर में कहा।

''तुम्हें तो हर वक्त मजाक ही सूझता है,इधर मेरी जान पर बन आई है..।''

मैं गंभीर हो गया था।

''हमारे प्यार का क्या होगा?'' उसने चिंता के स्वर में कहा था। मैं चुप रहा था। मुझे चुप देखकर वह भी कुछ देर चुप रही थी, लेकिन थोड़ी-सी

अवांछित चुप्पी के बाद उसने मुझे यह कह कर चौंका ही दिया था – "चलो, भाग चलें" यह सुन कर मेरे तो जैसे होश ही उड़ गए थे। मेरे मुख से तो सिर्फ इतना निकला था, "क्या? भाग चलें?"

"हां,वगे भी तो सुशीला को भगा कर ले गया।"

"उसकी बात कुछ और है," मैंने धीमे स्वर में कहा था।

"और है?" वह जैसे नींद से जाग गई थी।

"हम भागेंगे, तो तुम्हारे मुसलमान भाई मेरे घर-वालों को छोड़ देंगे?"

"तुम्हें वहम है... कुछ नहीं होगा।"

"नहीं," मेरे स्वर में दृढ़ता थी।

"तुम कायर हो, डरपोक हो...।" घृणा में धीमा चीखते हुए वह अपने घर लौट गई थी। वह हमारे प्यार का अंत था। उसके बाद मैं जब-जब माजिद के घर गया, वह मुझे देखते ही अपनी भौंहें चढ़ा लेती। एक दिन उसने मेरे साथ ऐसा बदला लिया कि मुझे अपनी मर्दानगी पर शर्म महसूस हुई। मैंने उसे पहले कभी माजिद के घर में नहीं देखा था। इसका एक कारण यह था कि उनके और माजिद के परिवार वालों में कोई पुराना झगड़ा था। अब जब मैं वहां गया तो, ऐसा लग रहा था कि वह पुराना झगड़ा मिट गया है। रिश्ता फिर से सजीव हो उठा था। इस बार वह ही हमारे पास चाय का समावार लेकर आई थी। कमरे में दाखिल होते ही उसने मेरी तरफ संबोधित होकर कहा था, "आदाब भाई जान।"

मैं यह अभिवादन सुन कर भीतर-ही-भीतर तिलमिला उठा था। इस नए अभिवादन से सारा ने एकमुश्त में ही अपना सारा बदला ले लिया था। ये हमारे विस्थापन से पहले के दिन थे।

निरंजन नाथ कौल की बेटी सुशीला का बाज़ाब्ता निकाह हुआ। उसने इस्लाम कबूल किया। सुशीला से उसका नाम हलीमा रखा गया। इस घटना से निरंजन नाथ कौल इस कदर टूट गए थे कि उन्होंने सस्ते में अपनी जायदाद बेच कर हमेशा-हमेशा के लिए कश्मीर छोड़ दिया।

परिस्थितियों में अकस्मात एक बदलाव आने लगा था। मस्जिदों में अब देर तक वाज़खानी होती रहती थी। जो धार्मिक कम और सियासी ज्यादा थी। फिर भी वातावरण में सहअस्तित्व की भावना में कोई अंतर नहीं आया था। हालांकि प्रेम नाथ भट्ट और टिक्कालाल टपलू को अपने घर के बिल्कुल निकट गोली से मार दिया गया था। फिर भी ऐसा लगता था कि बात आगे नहीं बढ़ेगी। भारतीय सैनिकों की मौजूदगी क़ा भी भरोसा था। लेकिन जनवरी की रात सारे विश्वास टूट गए। उस रात आजादी और निजामे-मुस्तफा के गगन-भेदी नारों ने पंडित घरों की सांकलें तक तुड़ा दीं। घरों के भीतर दुबके लोग अपनी मौत की जैसे प्रतीक्षा कर रहे थे। मस्जिदों से लाउडस्पीकरों के गरजने का सामूहिक कोलाहल था। 'काफिरो, यह कश्मीर छोड़ दो,' के नारों से स्पष्ट था कि अब हमारे अच्छे दिन नहीं रहे। इसी रात हमारे निर्वासन का मुहूर्त निकला। इसी रात के बाद लोग जान बचाने के लिए जम्मू भाग गए। फरवरी, मार्च और अप्रैल तक तीन चौथाई परिवार जम्मू में शरणार्थी बन गए थे।

हमारा जाना अभी स्थगित था। गांव में अभी कुछ पंडित परिवार थे। मैं डर रहा था कि कहीं कम्यूनिस्ट होने के कारण जिहाद की भेंट न चढ़ जाऊं। मेरे कारण ही मेरे परिवार को भी विस्थापित होना पड़ा।

जाने से पूर्व मैं माजिद से मिला। उसने गांव न छोड़ने का आग्रह किया, मगर हम फैसला कर चुके थे। हमारे निश्चय को भांप कर उसने मेरे गाल पर हल्की-सी चपत लगाते हुए कहा था-"तुम साले कश्मीरी पंडित सब कायर और डरपोक हो।"

"हां, हम सब कायर हैं... हमारा ईश्वर भी डरपोक है...।" मेरे स्वर में एक विचित्र आक्रोश था... नहीं... अवसाद था...

"बिल्कुल सच। तुम्हारे ईश्वर को तैरना तक नहीं आता है।"

मैं चुप रहा था। बहस का समय नहीं था। मैं माजिद से गले मिला। उसकी आंखों में आंसू थे।

घर पहुंचा, तो ट्रक में सामान भरा जा रहा था। मैंने अपनी कुछ जरूरी किताबें पैक कीं और उन्हें ट्रक में रखा। फिर मैं घर के ठाकुरद्वारे से भगवान की मूर्ति उठा लाया। उसे कपड़े में लपेटा और अंधकार में सबकी नजरों से बचता हुआ लिदर दरिया की तरफ गया। वहां पहुंचते ही मैंने भगवान की मूर्ति दरिया में फेंक दी। मुझे उस समय लगा, जैसे मैं किसी भारी बोझ से मुक्त हो गया। रात के सन्नाटे में दरिया का बहना कितना सुकून देने वाला होता है... इसे मैं पहली बार अनुभव कर रहा था। मैं इस सन्नाटे में अकस्मात चीखने लगा–''हमारे ईश्वर को तैरना नहीं आता।'' और बार-बार इसे दोहराता रहा। उस वक्त मुझे कोई चीखते हुए सुनता, तो पागल समझता। सर्दी बढ़ रही थी। मैं हल्के कदमों से घर लौट रहा था। सुबह तीन बजे हमारे ट्रक् को जम्मू के लिए रवाना होना था।

☆

घर-देवता

पहले मां गांव छोड़ने को राज़ी नहीं हो रही थी लेकिन जब दोनों बेटों, शंकर और हरि, ने उसे हालात की नज़ाकत समझाई तो वह मान गई लेकिन एक शर्त पर। वह शर्त थी घर-देवता को मछली-भात खिलाने की।

अभी मछली-भात पर्व में दस दिन थे लेकिन मां अपनी बात पर अटल थी। घर-देवता को मछली-भात खिलाते हुए उसे चालीस वर्ष से अधिक हो गए थे। कभी कोई बाधा नहीं आई थी और अब...। पर कुछ भी हो वह मछली-भात पर्व से पहले नहीं जायेंगे।

''अब रोज रात को बिजली चली जाती है'', मां लालटेन के आलोक में अपने बड़े बेटे शंकर से कहती है।

''हां मां! मुझे लगता है कि ऐसा जानबूझ कर किया जाने लगा है,'' छोटा बेटा हरि कहता है।

''भला क्यों?''

''वह इसलिए मां कि रात के इसी अंधेरे में मुजाहिद छिपने के स्थान बदल लेते हैं।'' मां समर्थन में सिर हिलाती है।

''एक बात पूछूं मां?'' बड़ा बेटा शंकर कहता है।

''पूछो...''

''क्या हम मछली-भात पर्व से पहले नहीं निकल सकते। हमारी बिरादरी के थोड़े से ही घर अब पूरे गांव में रह गए हैं।''

''तुम नाहक डरते हो बेटा। वली जू कह रहा था कि हमें कोई कुछ नहीं कहेगा। उसने यह भी कहा है कि अगर हम चाहें तो वह मस्जिद में ऐलान भी करवाएगा।''

"मां यह उस का प्यार बोल रहा है।"

कुछ नहीं बोली मां।

"जो भी हो, हमें एक बार फिर सोच लेना चाहिए।"

दहलीज़ के पास ओट में बैठी बड़ी बहू वहीं से अपने पति को संकेत कर रही थी कि देखो तो अपनी मां की ज़िद्द। वह हम सबको मरवा के ही रहेगी।

"नहीं मां, अब यहां हमारा ठहरना उचित नहीं," छोटा बेटा हरि डरते-डरते कहता है।

"जैसे तुम सबकी मर्ज़ी।" समर्पण करते हुए मां ने कहा।

दिसंबर की सर्द हवाएं चिनार की नंगी होती शाखों से टकरा कर वातावरण में एक अजीब गंध भर देती हैं। एक ऐसी गंध जिसे हम कोई नाम ही नहीं दे सकते। ऐसी ही एक संध्या मां खिड़की के पास उदास मन बैठी थी। बाहर चिनार के झड़े हुए पत्ते जमा हो रहे थे। इन ही झड़े हुए पत्तों में वह बचपन के दिनों में अंगार दिया करती थी। जाड़े के दिनों के लिए वह तीन-चार बोरे कोयला बना कर कितना खुश होती थी। कांगड़ी में चिनार के पत्तों से बना कोयला डाल कर वह खिड़की के पास बर्फ निहारा करती थी। विवाह के बाद भी वह चिनार के झड़े हुए पत्तों से कोयला बना लिया करती थी। बर्फ निहारना उससे अब भी नहीं छूटा था।

"तुम बर्फ को इतना क्यों निहारा करती हो?" एक बार पति ने कहा था।

"बर्फ इतनी सुन्दर जो है।"

"तुम से अधिक सुन्दर तो नहीं।"

"खबरदार! मां ने सुन लिया तो जोरू का गुलाम कहेगी।"

"कहने दो।"

"बड़े वीर बनते हो...।"

"तुम्हारा सौंदर्य ही कुछ ऐसा है।"

"एक बात कहूं?"

''कहो।''

''मुझे पश्मीने का फिरन बनवा दोगे।''

''पश्मीने का फिरन?''

मां व्यंग्य से मुस्कराती है। शंकर के विवाह पर ही पंडित जू ने उसकी यह इच्छा पूरी की थी – पूरे बीस साल बाद।

मछली-भात पर्व में दो दिन शेष रह गए थे। मां ने वली जू को घर बुलाया और लिदर की मछली लाने के लिए पैसे दिए। अपने खेत की मूलियां लाने का भी आग्रह किया। अच्छा दिन जान कर मां ने गर्म पानी से पर्व पूर्व का स्नान किया। वह संध्या का दीपक बालने ही वाली थी कि बाहर कोलाहल सुनाई दिया। वह जल्दी-जल्दी कुछ मंत्र बुदबुदा कर नीचे आई। तलघर में सारा परिवार सहम कर एकत्र हुआ था। वह भी एक गोल तकिये से पीठ टिकाकर बैठ गई। बातचीत के टुकड़े सुन-सुन कर वह थोड़ा बहुत जान गई कि बाहर वह शोर क्यों था। मां ने अपने बेटों की तरफ देखा और बेटों ने अपनी अन्नपूर्णा मां को। बहुओं ने अपने बच्चों की ओर देखा। अनिश्चय, भय, मृत्यु और संत्रास की भीषणतम कल्पनाएं पूरे तलघर में तैरने लगीं। कमरे में भाषाहीन अंधेरा धीरे-धीरे घुलने लग गया था।

''आखिर वह पकड़ा कैसे गया?'' मां ने कमरे का मौन तोड़ते हुए पूछा।

''कहते हैं मां! वह तीन महीने के बाद घर आया था कि पुलिस को खबर लग गई।''

''उन्होंने तत्काल मकान का घेरा डाला और तलाशी के दौरान वह पकड़ा गया।'' बड़े बेटे शंकर ने संक्षिप्त अंदाज में कहा।

''बेचारा परिवार के साथ एक रात भी न बिता सका।'' मां ने एक दीर्घ आह भरी।

''मां वह बेचारा नहीं है... वह एक मुजाहिद है। मुजाहिद......।''

''मगर इंसान भी तो है...?''

बाहर भीड़ के नारे कमरे में सुनाई दे रहे थे।

"हम क्या चाहते?"

"........."

मछली–भात का पर्व दिन।

मां बड़ी उदास थी। भागने के विचार से ही उसके भीतर आरियां चलने लगतीं और वह दर्द से छटपटाने लगती। क्या पता फिर लौटना होगा कि नहीं। क्या पता मर ही न जाए वह। कितना भाग्यशाली था उसका पति कि अपने ही लोगों के बीच मरा। अपने ही लोगों का कंधा मिला उसे। पता नहीं उसे अपना मरघट नसीब होगा कि नहीं। नहीं नहीं उसे सिर्फ अपने ही बारे में नहीं सोचना चाहिए। वह तो संध्या की धूप है। लेकिन उसे अपने बेटों-पोतों का भी सोचना चाहिए।

"वली जू आए हैं," कमरे में दाखिल होकर शंकर ने कहा। मां के विचारों का चरखा थम गया।

"कहां है वली जू?"

"नीचे तलघर में।"

मां 'हे राम' कहकर आहिस्ता–आहिस्ता सीढ़ियां उतरने लगी।

सिर पर गंदा कनटोप। पांव में फटे मोज़े। फिरन पर भारी कम्बल। चेहरे पर बेतरतीब लकीरें। यह सब कुछ नहीं था वली जू। इसके अतिरिक्त भी था वह।

जितना दरिद्र वह बाहर से लगता था उतना ही भीतर से धनी था। किसी एक के लिए ही नहीं बल्कि सबके लिए।

"भाभी जी!" नदी के किनारे सैनिकों ने अपना कैंप डाला है। मछली मिलना सम्भव नहीं है।

"मगर मछली तो हमारी रीत है," मां ने उदास होकर कहा।

"फिर क्या करें," चिन्ता के स्वर में वली जू ने कहा।

"कहीं से भी, रीत के लिए एक छोटी मछली ही ला दो।"

वली जू चला गया। दोनों बेटे मां पर बरस पड़े। छोटे बेटे ने तो यहां तक कहा कि अगर वे इस साल घर-देवता को मछली-भात न खिला सके तो क्या वह हम पर मुकद्दमा दायर करेगा।

''क्या पता मेरे हाथों यह अंतिम मछली-भात न हो,'' टूटते स्वर में मां ने कहा।

''ऐसा नहीं कहो मां!'' तुम जो भी कहोगी हम वही करेंगे। बड़े बेटे ने मां का हाथ छूते हुए कहा। छोटे बेटे को भी अपनी गलती का एहसास हो गया।

पाव भर मछली लाया था वली जू।

कुछ मूलियां भी लाया था।

''बड़ी मुश्किल से मिली हैं,'' मां से कहा वली जू ने।

चुप रही मां।

''ठन्डे जल में पूरा आधा घंटा रहा मैं... लेकिन एक यही मछली फंसी।''

''इसमें तुम्हारा क्या दोष?'' मां ने जैसे अपना मौन तोड़ा।

''अभी तुम्हारा घर-देवता राज़ी हो जाए। बाकियों के लिए मैं दो एक दिन में फिर कोशिश करूंगा।''

कहवा पीकर चला गया वली जू। पंडितों की कहवा चाय उसे बहुत पसंद थी।

तेज़ मिर्ची में पकी मछली। साथ में गवाही के तौर पर गोलाकार मूलियां। मां पूजा करके वापस तलघर में आ रही थी कि उसका पांव फिसल गया और वह सीढ़ियों से लुढ़क गई। उसके हाथ से मिट्टी का दीपक भी गिर कर टूट गया। डाक्टरों को बुलाया गया लेकिन मां के प्राण देह त्याग चुके थे। अपने ही गांव में अपने ही लोगों के बीच उसकी अर्थी उठी। पता नहीं घर-देवता उसकी मौत पर रोया कि नहीं लेकिन पूरा गांव उसकी मौत पर जरूर रोया।

☆

कहने वाला कहता है

आज हीमाल बहुत खुश थी। कुछ ही महीनों में वह मां बनने वाली थी। क्लीनिक से बाहर आते ही नागराय ने एक ऑटो वाले को इशारा किया। वह आया भी लेकिन हीमाल ने ऑटो में बैठने से साफ इंकार कर दिया।

"लेकिन क्यों?" नागराय ने पूछा।

हीमाल ने कहा कि वह कुछ देर के लिए पास के चिनार बाग में सुस्ताना चाहती है। नागराय मान गया। वास्तव में चिनार के पेड़ों पर फिदा थी हीमाल। वह चिनार के पत्तों को अपनी जिंदगी का एक हिस्सा मानती थी। दोनों टहलते-टहलते चिनार बाग पहुंचे और सब्ज़ार पर लेट गये। दोनों के भीतर एक सांझा स्वप्न अंकुरित हो चुका था।

"इन चिनार के पेड़ों में आखिर क्या है जो तुम इन पर इतना प्यार लुटाती रहती हो?" नागराय ने पूछा।

हीमाल मुस्करायी और नागराय ने उसके मुस्कराते अधरों का चुंबन ले लिया।

"कहो न हीमाल?" नागराय ने आग्रह किया।

"मुझे ये चिनार इसलिए इतने प्रिय हैं कि जहां अन्य पेड़ पतझर छूते ही पीले पड़ने लगते हैं वहीं इन चिनार के पत्तों में कितनी सुर्खी आ जाती है। पतझर में चिनार के ये सुर्ख-सुर्ख पत्ते बिल्कुल आग की तरह दिखाई देते हैं- दिव्य आग की तरह। मैं भी मृत्यु के सम्मुख इतनी दिव्य होना चाहती हूं।" हीमाल काफी भावुक हो उठी थी।

"मैंने सोच लिया है...," अधूरा वाक्य ही बोल पायी थी हीमाल कि नागराय ने अपनी उत्सुकता प्रकट की, "क्या सोच लिया है?"

''यही कि मैं अपने पुत्र का नाम चिनार रखूंगी।'' यह सुनते ही नागराय हंसने लगा। हंसते हुए वह संस्कृत नाटक के विदूषक की तरह लग रहा था।

''इसमें इतनी मूर्खता से हंसने की क्या बात है?'' हीमाल ने नाराज़गी भरे स्वर में कहा।

''नहीं ऐसी बात नहीं। मैं हंस रहा था कि तुमने कैसे मान लिया कि हमारा बेटा ही होगा, बेटी भी तो हो सकती है'' नागराय ने सफाई देने के अंदाज में कहा।

''हां, यह बात तो है'', हीमाल ने धीरे से कहा।

''अगर लड़की हुई तो तुम उसका क्या नाम रखोगी?'' नागराय ने पूछा। हीमाल सोच में पड़ गयी। नागराय हथेली पर घास के तिनकों को जमा करता रहा।

''सोच लिया कोई नाम?''

''नहीं।''

''मैंने सोच लिया है।''

''क्या?''

''वितस्ता!''

अखबार में सनसनीखेज़ और उत्तेजक खबरें छपने लगी थीं। बंदूक सीमा पार कर चुकी थी। घाटी में हत्याएं, जुलूस, जुनून इन सबमें वृद्धि होने लगी थी... लेकिन हीमाल-नागराय अपनी बेटी के प्यार में इस तरह डूब गये थे कि उन्हें बाहर की खबरें बचकानी लगतीं। नागराय ने बेटी के जन्म पर एक कविता भी लिखी थी। हीमाल ने वह कविता कंठस्थ कर ली थी। दोनों कई बार वितस्ता को सुना चुके थे यह कविता।

''हमारी वितस्ता इतिहास की प्रोफेसर बनेगी।'' एक दिन नागराय ने हीमाल से कहा।

''नहीं वह वैज्ञानिक बनेगी मैडम क्यूरी जैसी एक वैज्ञानिक।'' हीमाल ने विरोध करते हुए कहा।

"नहीं वह प्रोफेसर ही बनेगी कश्मीर इतिहास पर एक विशेषज्ञ प्रोफेसर।"

"नहीं वह..."

किसी ने द्वार खटखटाया। हीमाल ने वितस्ता को बिस्तर पर लिटाया और ऊपर मखमल की लिहाफ डाल दी। नागराय ने द्वार खोला। सामने एक दढ़ियल व्यक्ति खड़ा था।

"पुलिस मुझे ढूंढ रही है,मुझे अपने घर में कहीं छिपा लो,"नवयुवक के स्वर में अनुरोध कम और अधिकार अधिक था। उसने जानबूझ कर अपना फिरन थोड़ा ऊपर खींच लिया ताकि भीतर छिपी बंदूक साफ दिखायी दे।

नागराय ने नवयुवक को अपने पढ़ने वाले कमरे में छिपा लिया।

"खाना खायेंगे आप?" उसने संस्कारवश नवयुवक से पूछा।

"नहीं," नवयुवक ने संक्षिप्त उत्तर दिया।

रात गहराने लगी थी। पड़ोस के घरों में रोशनी बुझ चुकी थी। जनवरी की ठिठुरती ठंड हीमाल-नागराय की हड्डियों में पूरी शिद्दत के साथ उतर रही थी।

मुल्ला की बांग से हीमाल जाग गयी थी। वह बिस्तर से उठी और कांच की खिड़की से बाहर झांकने लगी। बाहर बर्फ की एक हल्की परत से ढक गयी थी धरती। आंगन का सामने वाला फाटक खुला पड़ा था।

उसने पति को जगाया। नागराय हड़बड़ाकर उठा।

"क्या है?" उसने पूछा

"लगता है नवयुवक चला गया है।" दोनों कमरे की तरफ गये। कमरे का दरवाजा खुला पड़ा था। तख्तपोश पर बिछी चादर पर सिर्फ सलवटें मौजूद थीं। कलेंडर से एक टुकड़ा कागज़ चिपका हुआ था जिस पर लिखा था-'इंडियन डॉग्स'! नागराय ने कलेंडर से चिपका कागज़ उतार लिया। उसकी चिंदी बनाकर खिड़की से बाहर फेंक दी। लेकिन यह सब करते हुए वह भीतर ही भीतर डर रहा था।

"इन दिनों आप काफी पढ़ते हैं –वह भी कश्मीर हिस्ट्री।" हीमाल ने नागराय से कहा। नागराय ने अपनी ऐनक गब्बे पर रखते हुए कहा, "हां इन दिनों हिस्ट्री पढ़ने की काफी जरूरत है।" हीमाल पति के और निकट सरक आयी। उसने अपने हाथों में पति का ठंडा हाथ लिया और कहा, "मैं एक बात पूछूं?"

"हां पूछो?"

"अब हम यहां सुरक्षित नहीं हैं। हमारी बिरादरी के लगभग सारे लोग पलायन कर चुके हैं। हमारा अपना कोई संबंधी भी तो नहीं रह गया है यहां अब। महागणेश न करें हमें कुछ हुआ तो लाश फूंकने वाला भी कोई नहीं होगा।"

"नहीं हीमाल हम कश्मीर छोड़ नहीं सकते। हम कश्मीर की लोककथा के नायक हैं।" हीमाल चुप रही। वह अपने पति को दुखी नहीं करना चाहती थी।

वातावरण में कुछ देर के लिए मौन छा गया। हीमाल ने नागराय की गंभीर आंखों में अपने अतीत का दर्पण देख लिया था। उसके अंदर एक आशंका बज उठी थी। वह अपने भीतर के सतीसर में हजारों वर्ष पीछे बह गयी थी।

"कहीं तुम पहले की तरह खो तो नहीं जाओगे?" हीमाल ने मौन तोड़ते हुए कहा।

"नहीं तब मेरी अनेक रानियां थीं।"

"अब क्या...?"

"अब तो मेरी एक ही रानी है... वही जो वितस्ता की मां है।"

"अपनी पत्नी कहते हुए लज्जा आती है?"

नागराय चुप रहा, पता नहीं वह कहां खो गया था।

सात दिनों के लगातार कर्फ्यू के बाद आज पांच घंटों के लिए ढील दी गयी थी। लोग सहमे-सहमे सड़कों पर आ-जा रहे थे। नागराय भी हड़बड़ी में

घर से निकला। उसने कोट की जेब में कपड़े का थैला रखा। बगल में कुछ किताबें दबाये, तेज कदमों से वह कालिज की तरफ चलने लगा। जनवरी भी समाप्त होने को थी मगर अभी तक दिसंबर का वेतन नहीं मिला था। कई दिनों से हाथ भी तंग चल रहा था। कालेज पहुंचते ही वह सीधे कैशियर के पास गया। कैशियर गुलाम नबी ने ''आदाब, प्रोफेसर साहब'' कहकर उसे आश्वस्त किया। पूरे साढ़े चार हजार रुपये जेब में रखे और पुस्तकालय से नई किताबों का पुलिंदा बगल में दबाये वह प्रसन्नचित्त घर लौट रहा था कि....

नहीं नहीं मुझे नहीं मालूम नागराय को किसने मारा। मैं नहीं कह सकता कि वह सिपाहियों की गोली से मरा या मुजाहिदों की। मैं कैसे कह सकता हूं। मैं जब घटनास्थल पर था ही नहीं। लेकिन कहने वाला कहता है कि वह दोनों ओर की गोलियों से मरा। उसके लथपथ शरीर के पास ही चंद किताबें बिखरी पड़ी थीं। उन किताबों का नाम क्या-क्या था, मैं नहीं जानता लेकिन कहने वाला फिर कहता है कि उन किताबों में सिर्फ शब्द ही नहीं थे, उनमें कश्मीर की आत्मा भी थी।

नागराय की हत्या के बाद भी हीमाल अपना घर छोड़कर नहीं भागी। वह अब भी लोककथा को बचाने के प्रयत्न में थी। इसके पास चोरी-छिपे कुछ लोग सहानुभूति प्रकट करने आते। हीमाल, नागराय की हत्या के विषय में अखबारों में छपी खबर से काफी क्षुब्ध थी। वह सोचती रहती थी कि क्या नागराय अकेला मरा था? क्या उसके साथ वितस्ता भी अनाथ नहीं हुई थी? स्वयं वह भी विधवा नहीं हुई थी?

द्वार पर दस्तक हुई। एक बुजुर्ग दरवाजे पर खड़ा था। हीमाल ने दरवाजा खोला और वह बुजर्ग भीतर चला आया।

''बेटी! मैं तुम्हारा कोई नहीं लेकिन तुम मुझे अब्बा कह सकती हो।'' हीमाल चुप रही। बुजुर्ग थोड़ा धीमे, थोड़ा हांफते हुए बोल रहा था जैसे वह दमे का पुराना मरीज हो।

''मैं जानता हूं तुम्हारे नागराय को किसने मारा?''

''किसने मारा?'' उत्तेजित स्वर में हीमाल ने पूछा।

''मैंने।''

''नहीं, नहीं तुम मेरे नागराय को कैसे मार सकते हो। तुम तो बुजुर्ग हो।''

''मैं सच कहता हूं बेटी! मैं ही वह गुनहगार हूं...,'' आंखें पोंछता हुआ और बीच-बीच में खांसता हुआ वह कह रहा था।

''नागराय मेरे घर के पास से गुजर रहा था कि अचानक भगदड़ मच गयी। तुम्हारा नागराय भी भाग रहा था। निकट ही कहीं गोली चलने की आवाजें सुनायी दीं। वह पीछे लौट आया। मैं अपनी छत से देख रहा था। मैंने वहीं से उसे पुकारा और भीतर आने के लिए कहा सोचने का समय नहीं था।

जान बचाने के लिए पनाह लेना जरूरी था। उसे मैंने अपने घर में पनाह दी। पुलिस ने सारे क्षेत्र का घेराव किया। घर-घर तलाशी हुई। हमारे घर में भी पुलिस घुस आयी। वे मेरे अकेले पुत्र को ले जाना चाहते थे। वह पकड़ लिया जाता तो उसकी मां फिर जिंदा नहीं रह पाती। मैंने नागराय को अपना दूसरा बेटा बताते हुए पुलिस वालों से उसे ही ले जाने के लिए कहा। इससे पहले कि तुम्हारा नागराय अपनी जुबान खोलता, वे उसे घसीटते हुए ले गये। सामने के चौक पर फाइरिंग में...''

इसके बाद न वह बुजुर्ग कुछ कह पाये और न ही हीमाल ही कुछ सुन पायी। वह शून्य हो गयी थी।

कहने वाला कहता है कि वह बुजुर्ग रोज़ हीमाल-नागराय के मकान तक आता और रोता हुआ लौट जाता। वह जितने दिन भी जिंदा रहा, अपने को हीमाल-नागराय की लोककथा का खलनायक मानता रहा।

☆

अपहरण

और उन्होंने मेरा अपहरण कर लिया। अंधेरे के कारण मैं अपने अपहरणकर्ताओं को देख नहीं पाया। अनुमानतः वे मेरे अपने ही गांव के थे और उनकी तादाद चार से ज्यादा नहीं लग रही थी। पकड़ते ही उन्होंने मेरे मुंह में कपड़ा ठूंस दिया और आंखों पर पट्टी बांधी। धकेलते हुए वे मुझे करीब सौ मीटर की दूरी तक ले गए होंगे। वहां से उन्होंने मुझे एक टांगे पर बिठा दिया। उन्होंने मुझे टांगे की पिछली तरफ बिठा दिया था और मैं दो बलिष्ठ लगते आदमियों के बीच ठंडे-ठंडे हवा के झोंकों को महसूस कर रहा था। पता नहीं वे मुझे किस अनिश्चित गंतव्य की तरफ ले जा रहे थे। ऐसी नाजुक स्थिति में पता नहीं कौन अज्ञात शक्ति मुझे बल प्रदान कर रही थी और मैं अपने भीतर तनिक भी डर अनुभव नहीं कर रहा था। तभी टांगे पर बैठते ही मैं अतीत की यादों में डूबता जा रहा था...

आज सालों बाद मैं टांगे की सवारी कर रहा था। शायद कालेज के दिनों के बाद पहली बार, या दूसरी या तीसरी बार। मैं इस समय स्वयं ही आश्चर्यचकित महसूस कर रहा था क्योंकि सामान्यता ऐसी स्थिति में आदमी अपने होशो-हवास खो देता है...

"तुम्हें सर्दी तो नहीं लग रही है?" मेरे एक अपहरणकर्ता ने मुझसे पूछा।

"नहीं," मैंने संक्षिप्त उत्तर दिया।

मगर वे मेरे उत्तर से संतुष्ट नहीं हुए और उन्होंने मुझे अपना एक जैकट पहना दिया। कुछ ही देर में मुझे अपने भीतर ऊर्जा तैरती हुई अनुभव होने लगी। मैं फिर स्मृतियों में वापस लौट आया। बहुत कुछ था जो मेरी पट्टी बंधी

आंखों के सामने से गुज़र रहा था लेकिन वह एक दृश्य मेरे सामने ठहर सा गया था। यह दृश्य रमज़ान टांगे वाले का दृश्य था।

"क्या बात है ख्वाजा साहब! तुमने मेरा टांगा क्यों रुकवा दिया?" रमज़ान का विनीत स्वर कानों में सुनाई पड़ता है।

"चल उतर, हरामी कहीं का..." हाथ से चाबुक और फटे कॉलर को पकड़ कर ख्वाजा ने रमज़ाना को नीचे घसीट लिया। और वह उस पर बेरहमी से चाबुक फटकारने लगा। मैं टांगे से नीचे उतरा और ख्वाजा साहब का हाथ रोक लिया।

"आखिर इसने क्या गुनाह किया है?" मैंने उत्तेजित स्वर में पूछा

" चल हट दाल्य बट्टा (दालखोर पंडित)," और ख्वाजा ने मुझे दूर धकेल दिया।

"पूछता है बात क्या है? इसकी इतनी मजाल कि तुम साले हिंदू के लिए मेरी बेटी को कालेज ले जाने से इंकार करे। मैं इस हरामी की खाल खींच दूंगा....."

रमज़ाना को बचाने की गरज से मैंने ख्वाजा से क्षमा मांगी और किसी तरह अपने रमज़ाना की जान बचाई। जानना चाहते हो वह ख्वाजा साहब कौन था– वह पार्टी का ब्लाक प्रेसिडेंट था और दिल्ली की छत्र-छाया में पलने वाला गांव का एक इज्जतदार आदमी!

टांगा दौड़ रहा था। अपहरणकर्ता खामोश थे। बीच-बीच में घोड़े पर चाबुक फटकारने का महीन स्वर सुनाई दे रहा था।

"सिगरेट पियोगे?" फिर पूछा अपहरणकर्ताओं ने।

"नहीं।"

"भूख तो नहीं लगी है?"

"हां...नहीं...।" मेरे इस 'हां' और 'नहीं' पर वे हंसते हुए दिखाई दिए।

"बस थोड़ी देर में तुम खाना भी खाओगे।"

टांगा रुक गया था। मुझे नीचे उतारा गया और किसी मकान के अंदर ले जाया गया। वहां पहुंचने के बाद उन्होंने मेरी पट्टी खोल दी और...

''अरे तुम अब्दुल गनी...।'' मेरे मुंह से चीख निकली।

''हां मैं, ताज्जुब हो रहा है ना?''

''बिल्कुल...''

''तुम्हारे साथ और कौन है?''

''तुम उन्हें नहीं जानते...।''

''फिर भी...?''

''पहले चाय पीयोगे या खाना ही...।'' विषय टालते हुए पूछा उसने।

''कहवा पियूंगा।'' मेरे मुंह से निकला।

''हां तुम पुराने शौकीन हो न चाय के।''

अब्दुल गनी दूसरे कमरे में चला गया और मैं सोचने लगा कि मैं इनका अतिथि हूं या... लेकिन इन्होंने मेरा अपहरण क्यों किया? मैं कोई महत्वपूर्ण व्यक्ति हूं नहीं। केवल एक छोटा-मोटा कवि हूं। तो क्या वे मुझे मार देंगे या फिर निरंतर यंत्रणा देते हुए जिंदा रखेंगे। या...

''लो कहवा पियो,''अब्दुल गनी के साथ एक औरत थी जिसके हाथ में ट्रे थी।

''आदाब मोहतरमा,'' मैंने संस्कारवश कहा।

''आदाब भाईजान।''

भाईजान संबोधन से मैं चौंक गया। चाय पीने के बाद मैंने अब्दुल गनी से पूछा –

''तुम मुझे उठा क्यों लाए?''

''बस यूं ही।''

''बस यूं ही, मतलब?''

''बताऊंगा, सब बता देंगे। पहले खाना तो खा लें।''

हम सबने खाना खाया। लिदर की मछली और साग। उन पर मोटे-मोटे चावल। कुछ देर के लिए मैं सचमुच भूल गया कि मेरा अपहरण कर लिया गया है।

अब्दुल गनी और मैं गांव में अक्सर राजनीतिक बहसें किया करते थे। वह 'जमात' का दर्शन लेकर मेरे साम्यवादी विचारों का सामना करता था। उसे मेरी नियत पर आत्मीय गुस्सा आता था और मुझे उसके कट्टरपन पर तरस। अपनी राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता के बावजूद भी हम अच्छे मित्र थे। मेरे विवाह में उन्होंने मेरे पिता की आर्थिक सहायता भी की थी। विस्थापन से पूर्व तक मैं अपने वेतन से चुकाता रहा था, अब्दुल गनी का सारा कर्ज। पहले वह मेरी इन किस्तों से नाराज होता था– कहता था कि क्या तुम मुझे इतना गैर समझते हो। बाद में मेरे तर्क से परास्त वह इन किस्तों को सहज रूप में लेता रहा था।

खाने के बाद कमरे में हम सिर्फ दो थे। मैंने फिर एक बार अब्दुल गनी से अपने अपहरण का कारण जानना चाहा। लेकिन पता नहीं क्यों वह इसे मेरी जान की कीमत पर टाल रहा था। बहुत देर अतीत की यादों में हम बहुत दूर तक एक साथ तैरते रहे और फिर अचानक उसकी आंखों में मुझे कुछ विचित्र सा दिखाई देने लगा।

''तुम पहले क्या हो कश्मीरी या भारतीय?'' हत्यारे की तरह मेरी आंखों में झांकते हुए उसने मुझसे पूछा।

''पहले कश्मीरी और फिर...'' उसने मुझे वाक्य समाप्त करने ही नहीं दिया। इस बार उसकी आवाज में गरज थी। कहा –

''सिर्फ कश्मीरी क्यों नहीं?''

मैं चुप रहा।

उसने मुझे धमकाते हुए कहा, ''तुम भारतीय कुत्ते हो।''

मैं फिर चुप रहा। अब वह मेरा दोस्त नहीं रह गया था। अब वह मेरा अपहरणकर्ता था।

''तुम काफिर हो– विश्वासघाती काफिर।'' मेरी चुप्पी अडिग थी।

''तुम जहन्नुम में भेजने लायक हो।'' यथावत था मेरा मौन।

"हम तुम्हें गोलियों से भून देंगे।" उसने अलमारी से बंदूक निकाली और मुझसे घृणा के भाव से कहा–

"ले छू इसे," उसने बलपूर्वक मेरा हाथ बंदूक की नली से छुवा दिया।

"यही नली तुझे नजात दिलाएगी मेरे काफिर यार"। 'काफिर यार' संबोधन पर मैं एक बार फिर चौक गया।

मुर्गे की पहली बांग पर अब्दुल गनी जाग गया था। कुछ देर बाद उसने मुझे भी जगाया और कहा कि नदी की तरफ चलें। हम दोनों नदी की जानिब चलने लगे। ठंडी-ठंडी हवाएं शरीर को चुभ रही थीं। इस सुखद चुभन से मेरी आत्मा में छिपी कोमलता सिहर रही थी। हम दोनों ने नहाया। अब्दुल गनी ने वहीं नमाज भी अदा की।

"घर वापस चलें?" उसने कहा।

"हां, लेकिन एक बात पूछूं?"

"वह क्या?"

"यह तुम मुझे किस दुविधा में रखे हुए हो। दोस्ती भी निभाते हो और दुश्मनी भी प्रदर्शित करते हो।"

"अब तुम्हारी क्या मंशा है...?" बीच में ही टोकते हुए उसने पूछा।

"अब यह नाटक बंद कर दो।"

"नाटक!" वह हंसा।

दोपहर के खाने में गोश्त पकाया गया था। साग भी था जो सीधे ढंग से पकाया गया था। कमरे में हमारे अतिरिक्त और कोई भी नहीं था। पता नहीं मेरे दूसरे अपहरणकर्ता कहां गए थे।

"तुम बड़े कम्यूनिस्ट थे–आखिर हिंदू ही निकले ना..." घृणा से मेरी तरफ देखते हुए मुझसे कहा उसने। मैं चाहता तो इसका उत्तर उसे दे सकता था लेकिन मेरे मन ने मुझे रोका। कहा कि तर्क बघारने की कोई आवश्यकता नहीं।

"क्या तुम आजादी नहीं चाहते?" उसने इस बार कुछ व्यंग्य के अंदाज में पूछा। मगर मैं अपने मौन में मजबूत था।

"तुम बोलोगे नहीं तो मैं तुम्हें गोली मार दूंगा।" उसकी आवाज में स्पष्ट धमकी थी।

"आखिर क्या बोलूं?" मैंने धीरे से कहा।

"क्यों भूल गए वे पिछले सारे दिन,जब बड़ी बहस करते थे मेरे साथ।"

"तब तुम दोस्त थे।"

"अब?"

"अब, मेरे अपहरणकर्ता हो।"

वह फिर एक बार हंसा। उसकी हंसी से मेरे सारे शरीर में आग लग जाती थी। लेकिन सब कुछ सहन करना पड़ रहा था।

"तुमने आज तक कितनी बार मुखबरी की है?" उसके इस प्रश्न से मैं घबरा गया। अखबार में पढ़ी मुखबरों की हत्याओं का विवरण मन में भय पैदा करने लगा।

"मुखबिरी! और मैं? नहीं, नहीं अब्दुल गनी! तुम मुझसे मजाक कर रहे हो," साहस बटोरते हुए मैंने कहा।

"गलत बिल्कुल गलत। तुम हरामी मुखबिर हो... हमें पकड़वाते हो... झूठी मुठभेड़ों में मरवाते हो, हमें कुत्तों की तरह..."

"मेरा यकीन करो, अब्दुल गनी! मां कसम अगर मैंने किसी पुलिसवाले को नमस्ते तक कहा हो।"

"मैं कैसे यकीन करूं?"

"तुम्हारी मर्जी।" हारते हुए मैंने कहा।

संध्या नमकीन चाय का समावार लेकर वही मोहतरमा आई जिसने मुझे भाईजान कहा था। साथ कुछ कुल्चे भी लाए थे। नमकीन चाय के पूरे चार प्याले सुढ़कने के बाद मैं काफी तृप्त अनुभव कर रहा था। अपहरण का संत्रास कुछ पलों के लिए मैं भूल गया था।

''मां कैसी है?'' अब्दुल गनी ने पूछा।

''बस ठीक है।''

''गठिया का वह रोग ठीक हो गया?''

''अब वह स्वर्ग में ही ठीक हो जाएगी।''

''नहीं, ऐसा मत कहो।''

''और नहीं तो क्या! मेरी हत्या के बाद तुम पूछ लेना उससे उसका हाल।''

वह चुप रहा। उसकी आंखों में कुछ तरल कतरे नमूदार हुए और फिर कहीं खो गए। मेरे बाकी अपहरणकर्ता भी लौट आए थे। आते ही उन्होंने मेरा मिज़ाज पूछा। मुझे साफ धुले कपड़े दिए और नया सिलाया फिरन।''अच्छा फिर मिलेंगे।'' कहकर उन्होंने मुझे सलाम किया और नीचे खड़ी मारुति में बैठ गए।

मेरी आंखों पर फिर एक बार पट्टी बांधी गई और मुझे किसी अज्ञात स्थान की तरफ ले जाया गया।

''तुम्हारी कोई अंतिम इच्छा है?'' मुझसे किसी अपरिचित स्वर ने पूछा। मैं स्तब्ध रह गया। कानों में मृत्यु की घंटियां सुनाई देने लगीं। मैंने मन ही मन मां, बहनों, पत्नी और बच्चों को याद किया। उनसे असमय बिछुड़ने के लिए क्षमा मांगी। मैंने उन किताबों का भी स्मरण किया जिन्हें पढ़ने से मैं वंचित होता जा रहा था।

''तुम्हारी कोई अंतिम इच्छा?'' फिर वही अपरिचित स्वर सुनाई दिया।

''हां है,'' मैंने अकस्मात अपने आपको कहते हुए सुना।

''क्या है वह इच्छा?'' उन सबने समवेत स्वरों में उत्सुकता प्रकट की।

''मैं अपने गांव का अंतिम बार एक पूरा चक्कर लगाना चाहता हूं।'' रुआंसे स्वर में मैंने कहा।

''लेकिन क्यों?''

"मैं अपने गांव के तमाम मंजर आंखों में भरकर मरना चाहता हूं।"

"तुम गांव को बहुत चाहते हो।"

"हां.. बहुत...।"

लगभग आधा घंटा बीता होगा। कोई कुछ भी नहीं बोला। वातावरण में जैसे सन्नाटा उतर आया था। मेरे लिए पल-प्रतिपल सांस लेना भी कठिन हो रहा था। अचानक कोई पदचाप मेरी तरफ आती सुनाई दी। कोई मेरी पट्टी को खोलने लगा था। धीरे-धीरे पट्टी खुलती रही और मेरे पैरों पर गिर पड़ी। कोई आकृति मेरी आंखों में परिचय पाने लगी।

और उस समय मेरे आश्चर्य का कोई ठिकाना नहीं रहा जब मैंने सामने अब्दुल गनी को आंखों में आंसू लिए हुए देखा।

"मुझे क्यों तड़पा रहे हो... मार दो गोली..।"

"नहीं मेरे यार! मैंने तुम्हारा अपहरण इसलिए नहीं किया था। मैं तो तुमसे मिलना चाहता था, तुमसे पुराने दिनों की तरह बातें करना चाहता था...।" इसके आगे वह कुछ भी नहीं कह सका। मेरे भीतर भी प्यार का एक ज्वार आया था। हम दोनों ने एक-दूसरे को गले लगाया। उसने मुझे इस तरह कस लिया था कि मेरी नींद टूट गई। तो क्या यह एक सपना था..? लेकिन क्या इस सपने का कहीं कोई यथार्थ नहीं है...! है भी या फिर... आधा सच और आधा...

✫

बिच्छू-घास

बहुत दिनों बाद आज कोई किताब हाथ में ली और उसे पढ़ गया। खुश हूं कि एक बहुत ही अच्छी किताब पढ़ने का आनंद मिला लेकिन उदास भी कम नहीं हूं कि यह भी क्या जिन्दगी है कि एक अच्छी किताब पढ़ने के लिए अब घर में कोई जगह न रही। जब से कश्मीर छोड़ कर आए हैं और जम्मू में एक किराए के कमरे में रहने लगे हैं, सब कुछ गड़बड़ हो गया है – पढ़ना-लिखना तो बिल्कुल ही छूट गया है। इन दिनों मैं उदास जरूर रहता हूं लेकिन बे-उम्मीद नहीं। मां-बाप, पत्नी, बच्चों, मित्र-परिजनों सब से यही कहता हूं कि उम्मीद रखो, सब ठीक हो जाएगा।

पत्नी तुनक कर कहती है, "हम तबाह हो गए। सारा सामान वहीं रह गया... विवाह के तमाम संदूक, बरतन, जेवर, कपड़े.... सब कुछ वहीं... यहां हम क्या लाए हैं?"

मां समर्थन में सिर हिलाती हुई कुछ वस्तुएं और जोड़ देती है "...पीतल के बरतन, मोटे-मोटे लिहाफ, गब्बे, शॉल, फिरन ... कुछ भी तो नहीं लाए साथ..."

पिता हुक्का गुड़गुड़ाते हुए ही कहते हैं –

"जान है तो जहान है। फिर दोबारा संचित करेंगे घर-गृहस्थी की चीजें... जान बची यही क्या कम है।"

कमरे में सन्नाटा गूंजता है। पिता जी हुक्के पर लम्बे-लम्बे कश खींचते हैं। मैं उनके गालों पर लुढ़क आए आंसुओं को स्पष्ट देख लेता हूं। डरता हूं यदि कुछ पूछ लिया तो इन आंखों से दरिया बह निकलेंगे।

"आज कौन सा महीना चल रहा है?" अकस्मात पिता जी पूछते हैं।

"नवंबर।" मैं जवाब देता हूं।

"बगीचों में सेब सड़ तो नहीं गए होंगे? पिछले साल अब तक सेबों को दिल्ली भी भिजवा चुके थे।"

"मां! कल रात बस अड्डे पर करनैलिया मिला था– वही करनैलिया अपने साधू सिंह का बेटा। वह परसों ही गांव से आया है। कह रहा था, अभी हमारे मकान सुरक्षित हैं। ताले ज्यों के त्यों लटके हैं। वह बहुत कुछ कहता था, कह रहा था माहौल अब काफी बदलने लगा है। मैं कहता था न, हम जरूर वापस जाएंगे। सिर्फ उम्मीद रखो।"

पत्नी झुंझला कर कहती है –

"और तुम ने उस करनैलिया का यकीन भी कर लिया। ये लोग बड़े झूठे होते हैं... जैसे तुम्हें पता नहीं।"

मां चुप की चुप रह जाती है। बच्चे ज़ोर-ज़ोर से दरवाजा पीटते हुए कमरे में दाखिल होते हैं।

"टिंकू-मीनू! कितनी बार तुम दोनों को समझाया है कि दरवाजा इतनी जोर से नहीं खोलते। आखिर यह तुम्हारा अपना घर थोड़े है," मैं गुस्से से चीखता हूं। बच्चे सहम कर एक कोने में दुबक जाते हैं। बाहर बरामदे में मकान मालकिन डोगरी में कुछ बड़बड़ाती है।

इन दिनों पिता जी बहुत हुक्का पीने लगे हैं। खांसते भी बहुत हैं। मां अंगार बना-बना कर थक चुकी है। होमलाइट की एक पूरी माचिस दिन में खर्च करते हैं पिता इन दिनों। मगर हुक्का गुड़गुड़ाते हुए पूरे दार्शनिक लगते हैं। कई बार मैंने चाहा कि इस मुद्रा में उन का एक फोटू खिंचवा लूं। सेब के बगीचे में एक तख्तपोश पर बैठे हुक्का गुड़गुड़ाते हुए कितने भव्य लगेंगे पिता जी! मन को तसल्ली देता हूं कि घर वापस लौटेंगे तो सबसे पहले यही एक काम करूंगा। उस फोटू को एक बढ़िया फ्रेम में अपने कमरे में सजाऊंगा।

"कितने बजे?" मां पूछती है।

"सवा-सात," बहन बताती है।

"खाना खाएं?"

"नहीं मां! पहले रेडियो से खबरें तो सुन लें," मैं कहता हूं।

"रहने दो। अब इन खबरों में क्या अच्छा होगा हमारे लिए सुनने को," मां सबके सामने खाने का अपना-अपना थाल रख देती है।

भात और मूली की चटनी।

सामने एक छोटी-सी प्लेट में रखी हरी मिर्च। कौर उठाने से पहले मन में एक शंका, एक भय, एक सिहरन पैदा होती है। इस कटु वर्तमान के होते कैसे होगा हमारा भविष्य?

मन में बसा झक्खड़ टोकता है।

"रहने दो, देखी जाएगी।"

"मामा जी आए थे," मां कहती है।

"मामी कैसी है?" मैं पूछता हूं।

"कई दिनों से बुखार था। दवा-दारू सब बेकार गया। डाक्टर ने दाल का पानी जब देने को कहा, बहुत रोई मामी। आखिर खाया मछली-भात और बिल्कुल ठीक हो गई।" एक सांस में मां सब कुछ कह देती है।

मुझे अपने एक डाक्टर दोस्त याद आते हैं। वे कहा करते हैं –

"कश्मीरियों को एक ही रोग है और वह है स्वाद का!"

कई दिनों से सोच रहा हूं कि कहीं पांच मरला ज़मीन खरीद लूं और इधर-उधर से पैसा जोड़कर दो कमरे बनवा ही लूं। आखिर किराए के कमरे में कब तक घुटते रहेंगे यूं ही...?

लेकिन इस वक्त ज़मीन खरीदना क्या सही होगा? इस सौतेले शहर में क्या हम निर्भय होकर अपनी जड़ें फैला सकेंगे? अपने ही से तर्क-वितर्क कर रहा हूं मैं। क्या...?

सोचने में व्यवधान पड़ता है। पत्नी बरतन मांज कर आती है। मां जी अभी सब्जी लेकर नहीं लौटी हैं। पिता जी भी राशन लेने गए हुए हैं। बच्चे भी स्कूल। मेरी आंखों में एक शरारत कौंधती है।

धीरे से दरवाजा बंद कर, पत्नी को एकदम आलिंगन में जकड़ लेता हूं।

पत्नी भी पूरे जोर से कस लेती है। समय का भय फिर डंडा लेकर हमें अलग कर देता है। पत्नी व्यंग्यात्मक मुस्कान लिए कहती है –

''उम्मीद रखो। आएंगे दिन...।''

''भाई जान! मैंने अजीब सपना देखा,'' छोटी बहन कहती है। कश्मीर होता तो कोई उसके सपने की तरफ ध्यान नहीं देता लेकिन यहां आकर एक दूसरे के सपनों को सुनने लगे हैं सब! सभी सपना सुनने की उत्सुकता प्रकट करते हैं। बहन कहने लगती है –

''मैंने देखा, हमारे बगीचों से सभी पेड़ गायब हो गए हैं और हरियाली की जगह बिच्छू-घास उग आई है। मैं माली को आवाज देती हूं – गुला यह तुमने क्या किया? सेबों की रखवाली के लिए तुम्हें रखा था न कि बिच्छू-घास के लिए। मैं पुकारती रही, पुकारती रही और थक कर अचेत हो गयी। चेत हुई तो एक गुस्सैल चील मेरी हथेली नोंच रही थी। मैं एकदम भागने लगी। पता नहीं कैसे ठोकर लगी और मैं गिरते-गिरते जाग उठी।''

बहन का सपना। क्या सचमुच सपना था यह? मैं सोचने लगता हूं। क्या यह हमारी नियति की रील तो नहीं थी... क्या हम सभी के बुरे सपने सुन सकेंगे?

मैं सोच में डूबता जा रहा था...।

उधर, मेरी मां स्टोव पर पीले चावल बना रही थी! बला को दूर रखने के लिए मां हमेशा पीले चावल बनाती रही है।

☆

अकनंदुन

कश्मीर में ऐसी कोई मां नहीं होगी जिसने लोककथा अकनंदुन सुन कर आंसू न बहाए हों। बचपन में कई बार मैंने यह कथा अपनी मां से सुनी होगी। हर बार मां के गाल आंसुओं से भीग जाते थे। एक बार मैंने मां से पूछा भी था –

''मां! इस कहानी में ऐसा क्या है जो तुम रोती हो?''

''तुम्हारे जब अपने बच्चे होंगे तो स्वयं ही समझ जाओगे,'' मां ने सहज होकर उत्तर दिया था। आज मैं दो बच्चों का पिता हूं। बच्चों के प्रति अपने वात्सल्य से मुझे अब इस कहानी की मार्मिकता समझ में आ रही है।

लोक कथा में बारह वर्षों के बाद जब जोगी आता तो मां उदास होने लगती। उसे यूं लगता जैसे जोगी उससे ही उसका बेटा छीनने आया है। वह उस समय को कोसती जब उसने जोगी की शर्त स्वीकार कर ली थी। उस समय मां निःसंतान थी और पुत्र के लिए तड़पती थी। जोगी ने मां को पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया था और साथ में एक शर्त भी रखी थी।

''कौन सी शर्त?'' मां ने पूछा था।

''तुम्हारा पुत्र केवल बारह वर्ष तुम्हारे पास रहेगा...''

''और उसके बाद?'' मां के स्वर में कंपन था।

''उसके बाद वह मुझे लौटाना होगा।''

मां का चेहरा बुझ सा गया था और पिता का रंग भी उड़ गया था। दोनों ही 'हां' और 'ना' के बीच झूल रहे थे।

''हमें स्वीकार है।'' बहुत देर बाद हवा में उनकी सहमति का संयुक्त स्वर एक साथ तैर गया था।

मां को अकनंदुन 'गाथा गीत' सुनना बहुत पसंद था। इसे गुलाम मोहम्मद डार ने अपनी मधुर आवाज में गाया था। मां, आए दिन मुझ से रेडियो कश्मीर को फरमाइशी खत लिखने को कहती। जब कभी रेडियो से वह गाथा प्रसारित होती, वह सारे काम छोड़ कर उसे तन्मयता के साथ सुनती। कभी-कभी मैं भी उसके साथ होता। वह उस समय सचमुच ही अकनंदुन की मां बन जाती और मैं भी अपनी कल्पना में अकनंदुन बन जाता था।

"मां जोगी आया है," मैं कहता।

"तुम कहीं छिप जाओ अकनंदुन ! मैं जोगी से कहूंगी कि तुम अपने ननिहाल गए हो।" मां के स्वर में हड़बड़ी होती।

"वह क्यों मां?" मैं आश्चर्य से पूछता।

"मैं नहीं बता सकती (स्वगत) नहीं, नहीं मैं तुम्हें जागी को नहीं सौंपूंगी।'

उधर, जोगी गुहार पर गुहार लगाता।

"कहां है अकनंदुन? उसे जल्दी... बुलाओ..."

मां विवश हो जाती। अपने पति और अकनंदुन को साथ लेकर बाहर निकल आती। जोगी अकनंदुन को अपनी तरफ खींच लेता।

"भूख लगी है।" जोगी कहता

"साग-भात तैयार है, जोगी महाराज।"

"नहीं, मुझे मांस चाहिए।"

"क्षमा करें जोगी महाराज! मांस इस समय कहां से मिल सकता है।"

"मुझे किसी पशु का नहीं, तुम्हारे बेटे का मांस चाहिए।"

"त्राहि! त्राहि! यह आप क्या कह रहे हैं महाराज!" शोक में डूबी मां का स्वर व्याकुल होता।

लोककथा में दर्ज है कि माता-पिता ने विवश होकर अपने बेटे को मार डाला। उसका मांस बड़ी देगची में पकाया। फिर उसे चार थालियों में परोसा गया। एक थाली जोगी के लिए। दो थालियां माता-पिता के लिए। चौथी थाली अकनंदुन के लिए।

"जाओ खिड़की से अकनंदुन को बुलाओ," जोगी मां से आदेश के स्वर में कहता।

"अकनंदुन! अकनंदुन!" आकुल कंठ से मां पुकारती।

"आया मां!...." अकनंदुन की आवाज वापस गूंजती। मां जोगी की माया में उलझ कर रह जाती। पीछे मुड़कर देखती तो न कहीं जोगी होता और न परोसी गई थालियां ही दिखाई देतीं।

निर्वासन में मां अकनंदुन की कथा भी भूल गई थी। पराये शहर में सौतेली धूप में उसका जैसे मर्मस्थल ही सूख गया था। वह जहां, जिस दिशा में भी देखती धूल, धुंआ, रेत और कंटीली झाड़ियां ही नज़र आतीं। कहां चार मंजिले मकान की खिड़कियों से देखने की अभ्यस्त मां, इन दिनों खिड़की से देखने के लिए विवश कर दी गई थी। वह जब-जब खिड़की से बाहर देखती तो कांपने लगती। उसकी यह हालत देख कर ही मैंने उसे खिड़की से बाहर देखने के लिए मना भी किया।

एक दिन मैंने मां से कहा –

"चलो मां, आज मैं तुम्हें अकनंदुन की कथा सुनाऊंगा।"

"मां को रुलाना चाहता है," हंसते हुए मां ने कहा।

"नहीं मां। ऐसी बात नहीं।"

"मैं मज़ाक कर रही थी। अच्छा चलो सुनाओ। देखती हूं तुम्हें कहानी कहने की कला आती है या नहीं।"

और मैंने कहानी शुरू की। मां तख्तपोश पर तनिक लेट गई।

"मां! इस बार हुआ यूं कि जोगी के आने से पहले ही अकनंदुन मारा गया। वह अपने बारहवें जन्मदिन के लिए बाजार से कुछ लाने गया था। शायद डाकखाने से कुछ लिफाफे। वे लिफाफे उसे किन्हें लिखने थे, कुछ पता नहीं। हो सकता है वे उसे उन मित्रों को लिखने थे जो हिजरत कर गये थे। मारा गया

अकनंदुन। सड़क पर एक हथगोला फट गया था जिसने उसकी जान ली। वह हथगोला उसके ही हमशक्ल किसी दूसरे अकनंदुन ने सुरक्षा बलों पर फेंका था। बहुत रोई अकनंदुन की मां। कुछ ही दिनों में जोगी आने वाला था। तब वह जोगी को क्या कहेगी। उसे कैसे अपनी अमानत सौंप देगी? नहीं, नहीं, वह जोगी को अपना मुंह नहीं दिखा पाएगी। वह कहीं चली जाएगी... छिप जाएगी अब उसका कौन था यहां। पति पहले ही अपनी राह जा चुका था। अब बेटा भी नहीं। नहीं, नहीं अब वह यहां नहीं रहेगी। पत्थर बांध कर नदी में डूब जाएगी। उसके बाद अकनंदुन की मां कहां गई, कोई नहीं जानता।''

शहर में बदस्तूर हथगोले फट रहे थे। जगह-जगह सैनिक तैनात थे। सड़कों पर पहले जैसी चहल-पहल नहीं थी। बारह वर्ष पूर्व जब जोगी इस शहर में आया तब कितनी शांति थी और कितनी रौनक, कितनी पावनता, कितना सद्भाव। लोगों के चेहरे पर रजत मुस्कानें हमेशा खिली रहतीं। नदियां, मौसम, हरियाली कितने सुन्दर लगते थे। अब इन नदियों में झांकने पर अपनी ही परछाईं से डर लगने लगता है। अविश्वसनीय मौसम तथा हरियाली से सड़े हुए मांस की बू आती है। जोगी खड़ाऊं पहने था फिर भी वह क्षिप्र गति से चल रहा था। जब वह अकनंदुन के घर पहुंचा तो उसे यह देख आश्चर्य हुआ कि दरवाजे पर ताला लटक रहा था। आज तक लोककथा में कभी ऐसा नहीं हुआ था। कुछ अमंगल अवश्य घटा होगा। शहर का वातावरण पहले ही संदिग्ध लग रहा था। शहर में से गुज़रते हुए ऐसा लग रहा था जैसे वह मातम की राजधानी बन गई हो। मकान खाली, सूने पड़े दिखाई दे रहे थे। अधजले मकानों की संख्या भी कम नहीं थी। तो क्या इस शहर में कोई दैत्य आया है जिसने इतनी तबाही मचा दी है? कहीं अकनंदुन का परिवार भी इस तबाही में उजड़ तो नहीं गया है? पर दरवाजे पर लगा ताला यह संकेत दे रहा था कि घरवाले डर के मारे कहीं भाग गए हैं।

जोगी काफी पैदल चल कर आया था। उसे थोड़े आराम की आवश्यकता अनुभव हुई। वह किसी विश्रामस्थल की ओर चल पड़ा। पास के चिनार बाग

में थोड़े से बचे सब्ज़ार पर वह लेट गया। लेटते ही उसकी आंख लग गई। वह बहुत देर तक सोता ही रहता यदि उसे अपने शरीर में किसी कठोर चीज के चुभने का आभास नहीं होता। वह हड़बड़ी से उठा। उसने कुछ सिपाही सामने देखे। उनमें से एक सिपाही बंदूक की नोक छुआते हुए पूछ रहा था–'तुम कौन हो और यहां क्या कर रहे हो?'

"मैं जोगी हूं।"

"जोगी हो तो इस आतंक नगर में तुम्हारा क्या काम?"

"मैं बारह वर्षों के बाद इस शहर में आया हूं, और मुझे कुछ भी मालूम नहीं।"

"तो वापस जाओ, जोगी महाराज," एक सिपाही ने बनावटी भक्ति के अंदाज में कहा।

"कहां जाऊं? कैसे जाऊं? जब तक अकनंदुन वापस घर लौट नहीं आता।" जोगी के स्वर में करुणा था।

"तो तब तक कारावास में रहो। हम वहां तक पहुंचाने में तुम्हारी सहायता करेंगे।" इस कथन पर सारे सिपाहियों ने एक साथ ठहाका लगाया। उस सामूहिक हंसी-मज़ाक के बीच एक सिपाही का आदेशात्मक स्वर गूंजा –

"संध्या हो रही है, तुम अपना-बसेरा ढूंढ लो जोगी।"

"बसेरा! बसेरा!" सिपाही के इस शब्द पर वह बहुत हंसा। उसकी हंसी में इतना बल निकला कि वे सारे सिपाही वहां से बिना हुज्जत किए चल दिए।

रात को फिर जोगी अकनंदुन के घर लौट आया। दरवाजे पर ताला यथावत् था। आस-पास के घरों में मद्धिम रोशनियां छन कर बाहर आ रही थीं। वह दरवाजे के निकट आ खड़ा हुआ और ताला हिला कर पुकारने लगा–"अकनंदुन! मेरे अकनंदुन! तुम कहां हो।" वह काफी देर तक पुकारता रहा लेकिन कोई खिड़की तक नहीं खुली। चांदनी रात थी और उस चांदनी में उसे खिड़की से किसी स्त्री का चेहरा दिखाई दिया। उसने हाथ के संकेत से जोगी को अपने घर के निकट बुलाया।

"चुप हो जा जोगी। मेरा अकनंदुन सो रहा है। आज ही दो साल बाद जेल से छूटा है। अभी-अभी मेरा अकनंदुन सोया है। तू अपनी चीख-पुकार से उसे

मत जगा। मैं मिन्नत करती हूं जोगी! तू यहां से चला जा।'' उस स्त्री की आंखों में तरलता थी और वाणी में गीलापन था।

''मगर मेरा अकनंदुन?'' जोगी ने दीन स्वर में कहा।

''तुम्हारा अकनंदुन मारा जा चुका है। अब वह कभी वापस लौट कर नहीं आएगा।''

''और उसका परिवार?''

''पता नहीं। अब जोगी तू चला जा,''उस स्त्री के स्वर में चिढ़ थी। जोगी ने उस मां की भावनाओं का सम्मान किया और वह वहां से चल पड़ा। सुबह झील के किनारे उसकी लाश मिली।

''तुम सुन रही हो ना मां।''

''बेचारा जोगी......।''

✲

आयेंगे हम लौटकर ऐ वतन

जब भी मुझे कश्मीर की याद सताने लगती है, मैं फौरन अपनी डायरी निकाल लेता हूं और उसमें दर्ज क्षमा कौल की कविता बुदबुदाने लगता हूं–

"आयेंगे हम लौटकर
ऐ वतन
बिछायेंगे 'नम्द' आंखों के
ताकि तुम रख सको
सरसब्ज़ अपने पांव
अभी तुम भी हो
खून से गमज़दा
ऐ वतन
मिलेंगे हम एक दिन
अपनी-अपनी कैदों से बाइज्जत रिहा होकर
ऐ वतन।"

कविता बुदबुदाने के बाद हाथ खुद-ब-खुद परस्पर प्रार्थना में जुड़ने लगते हैं –प्रभु! क्षमा कौल की कविता सच साबित हो।

विस्थापन का तीसरा वर्ष भी बीत रहा है और अभी परिस्थितियों में कोई विशेष बदलाव नहीं आया है, सोचता हूं, पता नहीं चिनार और बर्फ के बीच कब लौटना संभव हो? फिलहाल तो स्थिति यह है कि तन पर ही नहीं मन पर भी धूप के कोड़े सह रहे हैं।

"पापा! इस बार कूलर लाओगे ना?" बड़ा बेटा नीरज कहता है।

''कूलर नहीं पापा, अब हम फ्रिज ही लायेंगे।'' छोटा बेटा अरुण अपने बड़े भाई का विरोध करता है। मैं चुप रहता हूं। हां या नहीं का कोई भी उत्तर मैं अपने बेटों को नहीं देना चाहता था। मेरी चुप्पी से आहत पत्नी बिना कुछ कहे ही नाराज संसद की तरह कमरे से बाहर निकल जाती है।

''आज शहर में विस्थापितों का जलसा होने वाला है। भावी कार्यक्रम के बारे में फैसले लिए जाने वाले हैं। सरकारी उपेक्षा की भी भर्त्सना की जाएगी,'' मेरा विस्थापित पड़ोसी दीना नाथ कौल मुझे सूचना देता है। मैं नमकीन चाय के घूंट पर घूंट पिए जा रहा था। उधर मेरा पड़ोसी मेरी प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा कर रहा था। मुझे कुछ भी नहीं बोलते देख आखिर उससे रहा नहीं गया। बोला –

''तुम चलोगे ना?''

''नहीं।''

''लेकिन क्यों?''

''क्योंकि विस्थापितों के स्वयंभू नेताओं पर मुझे कोई भरोसा नहीं।''

''संकट की इस घड़ी में भरोसा तो करना ही पड़ेगा।''

मैं दीना नाथ से बहस नहीं करना चाहता था। साथ ही मैं उसका दिल भी दुखाना नहीं चाहता था। इसलिए मुझे कहना ही पड़ा, ''अच्छा, चलूंगा मैं भी।''

दीना नाथ मेरी एक पुरानी पत्रिका साथ लिए अपने घर लौट गया।

जलसे से लौटते हुए मैंने लगे हाथों घर के लिए कुछ जरूरी सामान भी खरीदा। मन मगर काफी उद्विग्न था। क्या हो गया है हमें? केवल रिलीफ और राशन की बातें और उस पर एक दूसरे की चुगली। क्या इस सबसे ऊपर नहीं उठेंगे हम? तमाम रास्ते मैं इसी सोच का दर्द अनुभव कर रहा था। मेटाडोर सवारियों से कितना खचाखच भरा हुआ था, इससे अनभिज्ञ था मैं।

''तुम्हें नहीं उतरना?'' जगाते हुए सा मेरा एक परिचित मुझसे ही संबोधित था। सचमुच मेरा वाला स्टाप आ गया था।

''एक कप कड़क नमकीन चाय तो पिलाना,'' घर पहुंचते ही मैंने पत्नी से कहा, मेरी उद्विग्नता उससे छिपी नहीं रही। पूछ ही लिया –

''क्या बात है?''

''कुछ नहीं।''

''कुछ तो है?''

''अब मैं तुम्हें क्या बताऊं.... बस इतना समझ लो कि हम लोग स्वार्थ के छोटे-छोटे दायरों से बाहर नहीं निकल सकते। हमारी राजनीतिक सोच या तो शून्य हो गई है या भटक गई है।''

''जलसे में किसी से लड़े तो नहीं।''

''नहीं।''

''शुक्र है।''

पत्नी चाय बनाने के लिए चली गई। लेकिन मेरे भीतर अभी भी कुछ था जो मुझे आहत किए जा रहा था। मैं सोचने लगा –आखिर क्यों कहा था मैंने जलसे में शामिल उस सरगर्म कार्यकर्ता से कबीर का यह दोहा–

''फूटी आंख विवेक की,
लखैं न संत असंत,
जाको संग दस बीस है,
ताको नाम महंत।''

और मुझे क्या खूब उत्तर मिला था –

''मत कहो हमें ये कबीर-वबीर के दोहे। इसी ज्ञान ने हमारा सत्यनाश किया है।'' काश नहीं सुननी पड़ती मुझे इतनी मूर्खतापूर्ण बात!

आज घर में कोई नहीं। सब विवाह में गए हैं। इधर काफी विवाह होने लगे हैं हमारी बिरादरी में। पता नहीं कब क्या हो जाए? कितना अजीब होता है लोगों का मनोविज्ञान भी। खैर, मुझे इस समय अपने इस चिरप्रतीक्षित एकांत के बारे में ही सोचना चाहिए। मैं सोचने लगता हूं कि मुझे एकांत का क्या करना चाहिए? कई इच्छाएं एक साथ सर निकालने का प्रयास कर रही थीं। सोचता, हाल ही खरीदी रसूल हम्ज़ातोव की किताब 'मेरा दागिस्तान' पढ़ लेनी चाहिए। बहुत दिनों से समय ही कहां मिला उसे पढ़ने का। कभी फैसला करता कि

नहीं मुझे अपना मनपसंद संगीत सुनना चाहिए। कभी चाहने लगता कि क्यों नहीं पत्रों का उत्तर ही दिया जाए–दोस्तों के पत्रों का अभी तक उत्तर ही नहीं दे पाया, अनिर्णय के ये क्षण काफी बोझिल साबित हो रहे थे। अंततः मुझे डायरी लिखने की सूझी और मैंने खुद को डायरी लिखते पाया। मैंने जिंदगी में वही किया जो दूसरों ने चाहा। अपनी बात कभी नहीं मानी। दूसरों की आज्ञाएं ढोते-ढोते मैं कितना बौना हो गया हूं। मुझे कोई बताए ऐसा क्यों होता है? जिंदगी के अड़तीसवें साल में कदम रखकर भी–ऐसा क्यों है कि मेरे पास कुल जमा पूंजी दो हजार से अधिक नहीं है।

इसके लिए कौन उत्तरदायी है कि मेरे पास अभी तक अपना कोई मकान भी नहीं। और नहीं देखी अब तक अपने ही देश की सुंदर जगहें–अब क्या बताऊं, (शर्म आती है) मैंने अपने शहर श्रीनगर का शंकराचार्य मंदिर तक नहीं देखा। नहीं देखा गुलमर्ग, नहीं रहा हाउस बोट में एक भी रात। नहीं घूमा पत्नी के साथ बर्फ में एक-आधा कोस तक। अचानक मैंने डायरी लिखना बंद किया। मैं उठा और किचन में नमकीन चाय बनाने लगा। नमकीन चाय बनाना मुझे बहुत अच्छा लगता है और पीना उससे भी अच्छा। मेरी मां कहती है मेरी नानी भी नमकीन चाय की काफी शौकीन थी और मैं उसी का लाडला पोता हूं।

महीने के अंतिम दिन थे, हाथ बिल्कुल तंग, मैं मन ही मन डर रहा था कि कहीं कोई अतिथि आ गया तो बड़ी मुसीबत होगी। ऐसे ही एक कंगाल दिन में दफ्तर से लौट रहा था तो देखा अपने गांव के दर्जी का बेटा शब्बीर तख्तपोश पर पांव पसारे बैठा था। मुझे देखते ही वह उठ खड़ा हुआ। हम दोनों गले मिले। गले मिलते हुए उसने मुझे कुछ ज्यादा ही कस लिया।

"कहो, सब कैसे हैं?"

"बस खैरियत है अभी।"

"अब्बा का क्या हाल है?"

"कुछ ठीक नहीं है। तुम्हें खूब याद करते हैं। कहते रहते हैं कि आप पंडितों के कपड़े सिलकर ही गुजारा होता था। आमदनी काफी गिर गई है इन दिनों।"

"तुम कुछ नहीं करते?"

"नहीं! वैसे मुझे नौकरी मिलते-मिलते रह गई।"

"वह कैसे?"

"मेरा नाम टीचरों वाली लिस्ट में था लेकिन मुजाहिदों ने जिला शिक्षा अधिकारी का ही अपहरण कर लिया। उन्हें इस शर्त पर छोड़ा कि वे उनके दिए नाम ही लिस्ट में शामिल करें।"

"ऐसा क्या सचमुच होता है वहां?"

"हां..."

"और आज़ादी?"

"पता नहीं बाबूजी।"

रात जब हम खाना खा रहे थे तो शब्बीर की आंखों में आंसू आ गए। पहले मैंने सोचा कि गोश्त में शायद अधिक मिर्ची के कारण उसकी आंखों से छलक आए हों ये आंसू, लेकिन सच जल्दी ही ज़ाहिर हो गया जब शब्बीर ने कहना आरंभ किया, "देखो ना हम किस अमन में रहते थे वहां। यह देखते ही देखते क्या हो गया? पता नहीं हमारे कश्मीर को किस दरिंदे की नज़र लग गई।"

मैं शब्बीर से कोई राजनीतिक बात नहीं करना चाहता था। शायद इसलिए भी कि कहीं मुंह से कोई अप्रिय बात न निकल जाए। इसलिए मैंने बात को वहीं खत्म करना चाहा। कहा, "खुदा की मर्जी।" शब्बीर आगे कुछ कहने का साहस ही न कर सका।

"तुम्हारा क्या प्रोग्राम है?" मैंने पूछा।

"मैं कल वापस जा रहा हूं।"

"लेकिन इतनी जल्दी।"

"जल्दी कहां! यहां आए हुए दस दिन हो गए। आप सबसे मिले बगैर लौटना नहीं चाहता था। अब्बा ने भी कहा था। अब सब काम हो गए।"

मैं मन ही मन खुश हुआ कि शब्बीर कल ही घर लौट रहा था। थोड़ा दुख भी हुआ। यदि हाथ तंग नहीं होता तो एक दो दिन रुकने के लिए ज़रूर कहता।

सुबह शब्बीर कश्मीर लौट गया। हमने उसे गांव की दरगाह के लिए ग्यारह रुपए चढ़ाने को दिए और गांववासियों के लिए बेशुमार सलाम।

मेहमान चले जाने के ठीक दो दिन बाद, हमारा विस्थापित पड़ोसी सूंघते-सूंघते हमारे घर आया।

''सुना है तुम्हारे यहां कोई मुसलमान मेहमान आया था?'' उसने आते ही पूछा।

''हां, आया था –अपने गांव के दर्जी का बेटा,'' मैंने सहज होकर कहा।

''क्यों, मुर्गा खिलाया उसे?''

''हां खिलाया,'' परवाह किए बगैर मैंने कहा।

''कम्बख्त यहां हमारा हाल देखने चले आते हैं।''

मैं दीना नाथ की इस बात का विरोध करना चाहता था लेकिन इस डर से चुप रहा कि वह पहले ही मुझे काफी बदनाम कर चुका था। इसलिए मुझे विवश कहना ही पड़ा, ''शायद ऐसा हो।''

''शायद नहीं, बिल्कुल सच है यह!''

दीना नाथ अब की बार बिना चाय पिए ही चला गया। उसे मैंने कुछ अस्पष्ट-सा बड़बड़ाते हुए सुना।

दफ्तर से आते ही पत्नी ने मुझे चौंकाया।

''आपने कुछ सुना?''

''क्या?''

''हमारा पड़ोसी दीना नाथ पागल हो गया है।''

''क्या?''

''हां, हां... पागल!''

मेरा दिल बैठ गया। उसका समस्त व्यक्तित्व आंखों के सामने दृश्यमान हो गया। सारी भूख मिट गई। आंखों में गहरा तमस उतरने लगा।

पागल! मैंने जोर से एक आह भरी।

अगले रोज मैं दफ्तर नहीं गया। दीना नाथ को अस्पताल देखने गया। वहां पहुंचकर मैंने देखा कि उसके बेड को चारों ओर से कुछ संबंधी घेरे हुए खड़े थे और वह ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला रहा था –

बर्फ!

चिनार!

वितस्ता!

हरियाली!

हवाएं!

सब मुजाहिद!

सब मुजाहिद!

मुझसे सुनी नहीं गयीं उसकी चीखें। मैं लौट आया घर। घर पहुंचते ही तख्तपोश पर लेट गया। पत्नी के बार-बार उलाहना देने के बावजूद मैं चुप रहा। आंखें बंद की और क्षमा कौल की कविता गुनगुनाने लगा :

आएंगे हम लौटकर

ऐ वतन......

....

प्रार्थना में हाथ खुद-ब-खुद जुड़ने लगते हैं।

प्रभु! क्षमा कौल की कविता सच साबित हो।

*

घर वापसी

एक समय की बात नहीं है। थोड़े दिनों पहले की बात है। चुनाव के संबंध में कश्मीर जाने वाले कर्मचारियों की सूची में मेरा भी नाम था। जब मुझे इस बात का पता चला तो मेरा चेहरा ज़र्द पड़ गया। इस समय कश्मीर जाने का अर्थ था- मृत्यु से सीधा साक्षात्कार। मन में भय तथा तरह-तरह की आशंकाएं उठने लगीं। शरीर में दौड़ता हुआ लहू जैसे जम गया। पलभर अपनी पत्नी और बच्चों पर दया आने लगी। आंखों में अपनी विधवा पत्नी और अनाथ बच्चों की शक्लें तैरने लगीं। मेरी दशा का ठीक अनुमान लगाते हुए निकट बैठे साथियों ने विनोदपूर्ण चुटकियां लीं-

"तुम्हें तो खुश हो जाना चाहिए कि अपने वतन जा रहे हो," कुलदीप ने कहा।

"वहां बर्फ होगी और आंखों को ठंडक देने वाली हरियाली होगी। पहुंचते ही अपनी त्वचा को ठंडा करना," विजय कह गया।

"चिनार के साये में बैठकर खूब कविताएं लिखना, कविराज!" चूनी लाल के स्वर में व्यंग्य था। दरअसल वह मेरे साहित्यिक व्यक्तित्व से काफी चिढ़ता था। हमेशा मजाक में ही चोट कर जाता। वह अक्सर कहता- लेखक बदमाश होते हैं। उन्हें घर नहीं बुलाना चाहिए। सच यह था कि मैं आज तक उसके घर नहीं गया था। हमेशा उसके घर जाने का मौका चूकता रहा। एक बार उसने मुझसे शिकायत भी की थी कि मैं जानबूझ कर उसके घर नहीं आता। तब मैंने मजाक में कहा था, "तुम शादी कर लो, मैं जरूर तुम्हारे घर आऊंगा।" सैक्शन में सब हंस पड़े थे। चूनीलाल अभी कुंवारा था। उम्र पैंतीस से ऊपर। सर आधा गंजा था और चेहरा गोल। रंग जैसे कोयले पर बिखरा दूध। विवाह करने की इच्छा अभी मरी नहीं था।....

चुनाव के सिलसिले में कश्मीर जाने के तनाव को लेकर आज मैं जल्दी दफ्तर से घर पहुंचा। मेरे फीके चेहरे को देखकर पत्नी चिंतित हुई तथा बच्चे उदास। चाय का कप थमाते हुए पत्नी ने पूछ ही लिया –

"क्या बात है?" मैं चुप रहा। चाय की अरुचिपूर्ण चुस्कियां लेते हुए मेरे भीतर से एक दीर्घ नि:श्वास निकला।

"तुम्हें मेरी कसम! क्या बात है?"

"मुझे चुनाव के सिलसिले में कश्मीर जाना है।" वह यह सुनकर हंसी। बच्चों की उदासी उड़ गई। मुझे गुस्सा आया, कहा –

"मैं तनाव से मरा जा रहा हूं और तुम सब हंस रहे हो," पत्नी संभल गई और बच्चे गंभीर।

"क्या अकेले तुम ही जा रहे हो या दफ्तर से और कोई भी?" पत्नी नेपूछा।

"नहीं दफ्तर से कुछ और लोग भी जा रहे हैं।"

"फिर घबराने की क्या बात है," बड़ा बेटा नीरज बोला। उसके स्वर में बेफिक्रीपन था और मुझे कायर सिद्ध करने की अज्ञात चेष्टा।

मैंने कपड़े बदले और बाहर टहलने के लिए निकला।

मेरे कश्मीर जाने की बात संबंधियों तक फैल गई। वे घर आने लगे। आते ही वे कश्मीर के हालात को लेकर खौफनाक चित्र प्रस्तुत करते और अंत में सहानुभूति प्रकट करते हुए कहते कि कोई चिंता की बात नहीं। ईश्वर पर विश्वास रखो। वैसे भी वहां इतनी फौज है, फिर क्या गम। मुझे उनकी ये बातें सुनकर गुस्सा आता लेकिन.....

मेरी अनथक कोशिशों के बावजूद सूची से मेरा नाम नहीं हटा। अब बचाव का कोई रास्ता नहीं था। 23 मई को चुनाव का पहला दौर हो रहा था। हमें 18 मई को सुबह टूरिस्ट सेंटर रिपोर्ट करने की हिदायत के साथ दफ्तर से रिलीव किया गया।

तनाव और डर के बीच ही कश्मीर जाने की मेरी तैयारियां शुरू हुईं। इन

दिनों मैं बल्गारिया का ऐतिहासिक उपन्यास '**विदा वेला की**' पढ़ रहा था। सन् 1668 ई. में बल्गारिया में रोदोपा की एलिनदेन्या घाटी में तुर्की मुसलमानों ने धर्म-परिवर्तन के नाम पर वहां के लोगों का जो नरसंहार किया उसे इस उपन्यास में पढ़ते हुए अपने कश्मीर के इतिहास का स्मरण हो आया। चौदहवीं शताब्दी में कश्मीर में इसी धर्म-परिवर्तन के नाम पर जो नरसंहार हुआ था वह भी कम दहलाने वाला नहीं था। अक्सर मैंने चाहा कि उस कालखंड पर ऐतिहासिक उपन्यास लिखूं पर अभी तक इतिहास का अध्ययन ही पूरा नहीं हो रहा था मेरा। मगर मुझे विश्वास है कि एक दिन मैं अपने पूर्वजों का यह ऋण जरूर उतारलूंगा।

फिलहाल पूरा घर मेरे कश्मीर जाने की तैयारी में लग गया। पत्नी ने बड़े संदूक से गर्म कपड़े निकाले। उन्हें धोया और प्रेस किया। साबुन, तौलिया, टुथ-ब्रश यहां तक कि सूई-धागा भी रख लिया।

''सूई-धागा किस लिए?'' मैंने पूछा।

''तुम्हारी पतलून की सिलाई जल्दी उखड़ आती है,'' वह बोली। मैं हंसा।

मैंने शेल्फ से इतिहास की कई किताबें एक साथ निकालीं और उनके पृष्ठ टटोलने लगा। पिछले सात वर्षों से अपने इतिहास को लेकर कितना अध्ययनशील रहा हूं मैं। दरअसल मैं अपनी जड़ों की यात्रा में सात वर्षों से अंधेरे में यात्रा कर रहा हूं। कभी-कभी मैं अपने से सवाल भी करता हूं कि कहीं मैं अनावश्यक रूप से इतिहास से बंध तो नहीं गया हूं? अतीत में जो हुआ उसका बदला मैं अपने समकालीनों से कैसे लूं? कमरे में पत्नी आ गई थी। मुझे किताबों से घिरे देख बोली -''अब कुछ दिन बंद करो ये किताबें। कश्मीर जाने में सिर्फ एक दिन शेष रहा गया है और अभी पूरी पैकिंग भी नहीं हुई।''

सचमुच एक ही दिन शेष रह गया था। मैंने इतिहास की बिखरी किताबों को समेटा और उन्हें शेल्फ पर रखा। पत्नी को आवाज़ दी। वह बरामदे पर पड़ोस की किसी स्त्री के साथ बातें करने लगी थी।

''क्या है?'' आते ही उसने पूछा।

"पैकिंग करते हैं।"

सचमुच! उसके लहजे में व्यंग्य था जिसे मैंने जान-बूझकर अनदेखा किया।

मेरी अनुपस्थिति में मेरी पत्नी ने लगभग मेरी जरूरत की सब चीजें एकत्र कर ली थीं। मैं मन ही मन पत्नी की व्यवहार-कुशलता पर रीझ गया।

अटैची चीजों से भर गई थी। मैंने इसमें अपनी दो-एक मनपसंद किताबें रखनी चाहीं पर पत्नी ने विरोध किया।

"किताबें नहीं ले जाना?"

"क्यों, क्यों?" मैंने पूछा।

"किताबें पढ़ते हुए तुम सब कुछ भूल जाते हो।"

"सब कुछ," मैंने उसके ही शब्दों को दोहराया।

"हां, सब कुछ।"

"तुम्हें भी?"

"और क्या?वह मैं ही हूं कि बेशर्म बनकर तुम्हारे और किताबों के बीच आ जाती हूं।" मैं हंसा। उसने मेरी मनपसंद किताबें अलग रखीं और उनकी जगह अटैची में हनुमान चालीसा रखा। यह दूसरी बात है कि मैंने बाद में छिप कर ओशो की एक नई किताब अटैची में रख दी।

मैं सभी निकट संबंधियों से रोते-रोते विदा ले चुका था। पहली बार बड़ों के पांव छुए। क्या पता ज़िंदा लौटना होगा कि नहीं। उनसे विदा ले लेकर मेरे भीतर मृत्यु का एहसास तीव्र हो उठा था। अपनी मृत्यु की कल्पना में मुझे सामूहिक रुदन सुनाई दे रहा था।

रात सोने से पूर्व मैंने जनेऊ कील पर टांग दिया।

"जनेऊ को क्यों निकाल दिया?" पत्नी ने पूछा।

"जनेऊ पहने कश्मीर जाना ठीक नहीं," मैंने उत्तर दिया। उसके मुंह से 'हरिओम' के साथ एक दीर्घ निश्वास निकला। मैंने पानी पिया और आईना

देखा। आईना देखते ही मुझे अपना दादा याद आया। वह कहा करते थे कि रात को आईना नहीं देखना चाहिए, इससे उम्र घट जाती है। तो क्या मेरी भी उम्र घट गई? ...घट गई तो कितनी... एक मिनट... एक घंटा...एक वर्ष...या... अचानक बिजली गुल हो गई और मैंने बच्चों से टकराए बिना पत्नी तक का रास्ता सफलतापूर्वक तय किया। अगली सुबह हमें कश्मीर जाना था।

पूरे सात वर्षों बाद मैं कश्मीर लौट रहा था। इस तरह कश्मीर जाना पड़ेगा, कभी सोचा नहीं था। जम्मू से ही पूरी सुरक्षा के साथ हमें घाटी में ले जाया जा रहा था। उस घाटी में जहां आज हमारा उजड़ा हुआ घर था। सबके चेहरे पर डर और अविश्वास छाया हुआ था। हर कोई तनावग्रस्त था और मील पत्थरों पर घटती संख्या से यह तनाव और भी बढ़ जाता था।

जवाहर टनल पार करते ही जब मैंने घाटी की हवा में पहली लंबी सांस ली तो फेफड़ों में जमा धूप प्रथम संस्पर्श से धुलकर ताजा हो गई। टेढ़े-मेढ़े रास्तों से होकर जब हम घाटी के सौंदर्य से रू-ब-रू हो रहे थे तो यूं लग रहा था जैसे हमारी आत्मा को निहारने के लिए आईना मिल गया हो। ऊंचे-ऊंचे हिम-शिखरों के बीच मुझे दूर अपने गांव की चोटी भी दिखाई दी। दुख भी हुआ कि अपने गांव जा न सकूंगा। हालांकि हम जिस मार्ग से जा रहे थे वहां से हमारा गांव अधिक दूर नहीं था। पता नहीं मन में यह बात कैसे उठी कि यदि कश्मीर में निर्भय हो कर रहने के लिए मुसलमान होना जरूरी है तो सौंदर्य की खातिर मुसलमान बनना भी क्या बुरा है? अभी जब पिछली रात घर में जनेऊ उतार कर मैंने उसे कील पर टांग दिया और मजाक में पत्नी से कह दिया था –

"अब मैं कुछ दिन मुसलमान हो जाता हूं।"

"कुछ दिन ही क्यों हमेशा के लिए क्यों नहीं?"

पत्नी के स्वर में चिढ़ और वितृष्णा दोनों थे।

"फिर तुम्हारा क्या होगा?" मैंने मासूमियत के साथ कहा।

"मेरे तो गिरिधर गोपाल।" यह पत्नी का व्यंग्य था या उसका विनोद,

में समझा नहीं। वैसे जब कभी मैं अपने व्यक्तित्व के बारे में विचार करता हूं तो मुझे हमेशा यूं लगता रहा है कि मैं देखने में मुसलमान लगता हूं, व्यवहार से हिंदू तथा विचार से कम्यूनिस्ट। इसलिए जो मुसलमान मुझे नहीं जानते, उन्हें मैं अच्छा लगता हूं। जो हिंदू मुझे नहीं जानते उन्हें भी मैं अच्छा लगता हूं। कम्यूनिस्ट मुझे जानते हैं पर उन्हें मैं अच्छा नहीं लगता।

अचानक धड़ाम की आवाज हुई। पलभर यूं लगा कि मुजाहिदों ने हमारी बस पर ग्रनेड फेंक दिया हो। पर विस्फोट टायर के फट जाने की ध्वनि थी। जिसका एहसास हमें तब हुआ जब हमने एक-दूसरे को जिंदा पाया। सारा कारवां रुक गया। सुरक्षा कर्मियों ने अपनी-अपनी पोजिशनें लीं। बसों से कर्मचारी नीचे उतरे। हर कोई वहां की खुली हवा में बीते दिनों का भाईचारा ढूंढने लगा।

''अरे संतोषी। तुम यहां? गांव नहीं चलना है?'' यह बशीर की आवाज थी।

''गांव! कौन-सा गांव?'' मैंने वापस पूछा।

''तुम्हारा गांव! हमारा गांव!'' उसने चौंकते हुए कहा।

''मेरा गांव तो खो गया है,'' मेरे स्वर में दर्द था।

''तुम पागल तो नहीं हो। कहीं गांव भी खो जाता है,''उसने आश्चर्य मिश्रित स्वर में पूछा।

''तुम नहीं समझोगे,'' मैंने निश्वास छोड़ते हुए कहा। फिर चुप हो गया। सामने बशीर बिल्कुल नहीं था। हवा में सिर्फ उसकी अदेह उपस्थिति थी।

बशीर हमारे गांव का ग्वाला कवि था। उसे दुनिया में दो ही चीजें अच्छी लगती थीं-दूध और शायरी। वह दुख के साथ यह कहता था कि आजकल दूध और शायरी में काफी पानी डलता है। हर शनिवार जब मैं श्रीनगर से गांव लौट आता, वह मेरे आने की राह देख रहा होता। गांव में उसकी छोटी-सी दुकान थी। हर रविवार वह मुझे सप्ताह भर की शायरी सुनाता। रसुल मीर की शायरी का बहुत असर था उस पर। ''तुम्हारी कोई कोंगमाल तो नहीं है?'' मैं उससे बारहा कहता।(कोंगमाल कश्मीरी शायर रसुलमीर की हिंदू प्रेमिका का नाम था।)

''मैं ग्वाला हूं मुझे सिर्फ राधा की तलाश है,'' वह कहता। बशीर कृष्ण को अपना नायक मानता था। पूरे सात वर्ष हो गए थे बशीर की शायरी को सुने हुए। पता नहीं उसे कोई राधा मिली थी या नहीं और यह भी नहीं मालूम कि इस बीच उसकी शायरी को क्या हुआ? यह भी तो मुमकिन है कि शायरी तथा दूध दोनों में जहर घुल गया हो।

बसों का कारवां फिर शुरू हुआ। सड़क के दोनों तरफ के पेड़ खड़े थे जो हमें जाते हुए निहार रहे थे और अपनी व्यथा हम पर जैसे फेंक रहे थे। अभी तक एक भी चिनार का पेड़ नजर नहीं आया था। अब के जब एक बूढ़े चिनार को देखा तो अभिवादन में अपने आप हाथ जुड़ गए। मुंह से निकला 'नमस्कार'। चिनार ने मेरा अभिवादन स्वीकार किया या नहीं, मैं नहीं जानता पर मुझे जैसे अपनी गलती का एहसास हुआ। मन ने कहा कि, यह चिनार तुम्हारा अभिवादन कैसे स्वीकार कर सकता है, इन्हें नमस्कार सुनने की आदत जो नहीं रही।

हमारी पहली रात एयर-फोर्स के एक हेंगर में व्यतीत हुई। एयर-फोर्स परिसर में सैनिकों की गतिविधियां लगातार हमें यह अहसास दे रही थीं कि हम एक युद्ध में जा रहे हैं। दूसरी रात भी पिछली रात की तरह बीती पर वह हेंगर में नहीं एक सरकारी डिग्री कालेज में हमाने बिताई। जब हमें इस डिग्री कालेज में ठहराया गया तो रात काफी बढ़ चली थी। सारा कस्बा सो चुका था। चारों तरफ सन्नाटा था। सिर्फ सुरक्षा- गाड़ियों की आवाजाही इस सन्नाटे को कुछ देर के लिए चीर कर रख देती। कुछ कुत्ते भी थे जो यदा कदा अपने भौंकने से अपना होना प्रमाणित कर रहे थे। शायद वे इसलिए भी भौंक रहे थे ताकि हमें जतला सकें कि वे सब कुछ जानते हैं।

विगत दो दिनों से लगातार वर्षा हो रही थी। आज हमें अपने-अपने मतदान केंद्रों पर जाना था। हम जिस कमरे में ठहरे हुए थे, वह एक क्लासरूम था। इस क्लासरूम की सभी खिड़कियों के कांट टूटे हुए थे। सामने सीमेंट का ब्लैकबोर्ड था जिस पर पोंछी गई इबारतों का हल्का-सा आभास अभी भी मौजूद था। दीवारों

का रंग पाकिस्तानी झंडे जैसा सब्ज था। इन दीवारों पर कोयले तथा चाक से लिखा जनून था। यह सिर्फ इस कमरे की दीवारों का ही हाल नहीं था बल्कि सारी बिल्डिंग का था। जालिमों! जाबिरो! हिंदुस्तानी कुत्तो! जैसी लिखी घोषणाएं हमें बराबर यह एहसास दिला रही थीं कि हम कहां हैं। मेरे एक दोस्त ने तो यह टिप्पणी भी की कि हम कश्मीर में नहीं चेचेनिया में हैं।'

डिग्री कालेज से लगती सड़क के उस पार कुछेक दुकानें थीं जो सुरक्षाकर्मियों के लिए ही खुली थीं। हमें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि सुरक्षा बलों के साथ स्थानीय लोगों के संबंध अच्छे थे। इन दुकानों में एक नानवाई की दुकान भी थी जो दूध-दही बेचने वाले के साथ थी। कश्मीर में नानवाई की दुकानों पर स्त्रियां बैठा करती हैं जो आमतौर पर बहुत सुंदर होती हैं। हमारे घरों में इन मुसलमान नानवाई की दुकानों से रोटियां लाने की सख्त मनाही थी। हालांकि दूध खरीदने में कोई आपत्ति नहीं थी। मैं बचपन से ही इस विरोधाभास पर अपने बड़ों से बहस किया करता था और हर बार उम्र के लिहाज के सामने दब जाता।

"आखिर मुसलमान नानवाई की रोटी खाने में क्या हर्ज है," मैं कहता।

"इससे हमारा धर्म भ्रष्ट हो जाता है," सामने बैठा कोई बड़ा कहता।

"पर दूध भी तो मुसलमान ही बेचता है," मैं तर्क देता।

"दूध अमृत है। यह कभी झूठा नहीं होता।"

मैं और तर्क देता तो पिता जी हुक्के की काठ नली का भय दिखलाते और गुस्से में कहते –

"यह जरूर पढ़-लिखकर कलमा पढ़ेगा।" मां यह सुनकर सहम जाती वह पिताजी से बहुत डरती थी जो अक्सर ऊंची आवाज में सिर्फ सबको सुनाने की गर्ज से कहते, "औरतें पांव की जूती होती हैं।" मां हमेशा से ही पिता जी से दबती रही हैं। मेरे पिता अक्सर मनुस्मृति के उदाहरण देते। मैं और मां दोनों अब मनु से भी डरने लगे थे। जब मैं बड़ा हुआ तो पिता जी मेरी कद काठी

देखकर मुझे डांटने-फटकारने का हौंसला खो चुके थे। अब वह मां को भी नहीं डांटत थे। इस बीच मुझे अपने पिता जी के बारे में कुछ रोचक जानकारी मिल गई। अपनी जवानी में वह स्त्रियों के हुस्न के कद्रदान थे। इस विषय में उनका दृष्टिकोण धर्मनिरपेक्ष था। एक मुसलमान दोस्त से अपने पिता जी के बारे में एक बहुत महत्वपूर्ण जानकारी मिली थी जो जानकारी से ज्यादा मेरे लिए डिस्कवरी थी। उन दिनों देश में तांबे के सिक्के प्रचलित थे। इन सिक्कों में एक पैसे का छेद वाला सिक्का भी था जिसे कश्मीर में 'डबल पैसा' कहकर पुकारते थे। मेरे पिता इस छेदवाले सिक्के में धागा डालकर उसे अपने गले में लटकाए रखते। उनकी यह खोज थी कि इसे संभोग के समय मुंह में रखने से पौरुष बढ़ता है। पता नहीं वह 'डबल पैसा' पिता जी ने मुझे क्यों नहीं दिया।

वर्षा जारी थी और सर्दी बढ़ गई थी। बिल्डिंग कर्मचारियों से भर गई थी। विभिन्न विभागों से आए कर्मचारी सीआरपी की पहरेदारी और आतिथ्य पर संपूर्णता निर्भर थे। पिछले दो दिनों से हमें जो खाना दिया गया वह निरामिष होने के साथ-साथ निराशाजनक भी था। कईयों के पेट इस सरकारी अन्न से प्रभावित हुए। पड़ती हुई बारिश में पानी से भरी बोतलें ले जाते हुए कर्मचारियों पर सुरक्षाकर्मी खूब हंस रहे थे। हमारे भी एक साथी का बुरा हाल था। उसकी शोचनीय दशा को देखकर मैंने सड़क के पार जाकर उसके लिए दही लाने का फैसला लिया।

मैं जब दही लेने दुकान पर गया तो दुकानदार ने मुझे गौर से देखा। वह साठ-पैंसठ साल का स्वस्थ बूढ़ा था। सफेद हाजी कट दाढ़ी और सर पर किसानों की गोल टोपी। इस टोपी से आम कश्मीरी के चरित्र को आंका जाता है। हिंदुस्तानी में बात करने के बावजूद उसने पहचान लिया-नाम से नहीं, रंग से।

"तुम कश्मीरी पंडित हो न?" उसने पूछा।

"हां," मुझे लाचार कहना पड़ा।

"कश्मीर में किस जगह रहते थे।"

"इस्लामाबाद में" मैंने जान-बूझकर अनंतनाग को इस्लामाबाद कहा।

"अब कहां रहते हो?"

"जम्मू"

"टेंट में?"

"नहीं, किराए के मकान में।"

उसने गहरी सांस ली। तुम पंडित कितने बड़े-बड़े मकान छोड़ कर भाग गए यहां से। पता नहीं कैसी बौरायी हवा थी उन दिनों। हमारे गांव में दस पंडितों के मकान थे। आठ भाग गए सिर्फ दो रह गए।

"चलो अच्छा किया। जम्मू की लू से तो बच गए," मैंने उदासी के स्वर में कहा।

"पहले आपके लिए लस्सी बनाऊं," मेरी आंखों में स्नेहपूर्ण झांकते हुए पूछा उसने।

"नहीं ठंड है।"

तभी उसकी बीवी समावार में गर्म-गर्म चाय लेकर आई। साथ में कुछ गर्म ताजा 'लवास' भी थे। उसने हाजी साहब के सामने चाय का प्याला रख दिया।

"आप चाय पियेंगे पंडित जू।"

"हां! .." मेरे मुख से एकदम निकला। हालांकि अपने हां कहने पर मुझे बाद में संकोच भी कम नहीं हुआ। उन्होंने मेरे सामने भी चाय का प्याला रख दिया। नमकीन चाय जिसे कश्मीर में शीर चाय के नाम से पुकारा जाता है, मेरी आत्मा की पुकार है और इस समय उस दुकान पर मेरी आत्मा एक मुसलमान को दुआएं दे रही थी। "परसाल मैं भी जाड़े में जम्मू आया था," उसने नए सिरे से बात शुरू की।

"व्यापार के सिलसिले में?" पूछा मैंने।

"नहीं।"

"फिर कैसे?"

"अपने बेटे से मिलने।"

"क्या वह वहां सेक्ट्रेट में है।"

"नहीं सेंट्रल जेल में।"

मेरे पांव के नीचे से जैसे जमीन खिसक गई। क्या उसका बेटा मुजाहिद था? पर जो भी हो इस समय वह मेरे सामने कश्मीरियत का एक जीवित प्रीतक था।

पोलिंग पार्टियों को मतदान केंद्रों तक पहुंचाने का काम आरंभ हो चुका था। हमारा मतदान केंद्र सिर्फ पांच किलोमीटर दूर था। इसलिए हमें पहुंचाने की प्रशासन को इतनी जल्दी नहीं थी। दूर के पोलिंग बूथों के लिए कर्मचारियों को प्राथमिकता दी गई। सबको बुलैटप्रूफ जैकट दिए गए थे। स्लीपिंग बैग पहले से ही दिए गए थे।

मैंने भी बुलैटप्रूफ जैकट हासिल किया। उसे एकदम पहन भी लिया। यह जैकट वीआईपी जैकटों से अलग था। इसे पहन कर ऐसा लग रहा था जैसे सीने पर किसी ने भारी बोझ रख दिया हो।

"अब हमारी जान को कोई खतरा नहीं," मेरे एक साथी ने मजाक में कहा। "पर जान है कहा?" मैंने कहा। असपास जिसने भी सुना हंस दिया।

मुझे मालूम नहीं था कि मनोहर अपने साथ कैमरा भी लाया है। उसने मुझे अलग से-जाकर कहा।

"मेरे पास कैमरा है। चलो बुलैटप्रूफ जैकट में फोटू खींचें।" मैं भीतर ही भीतर हंसा। फोटू खींचकर क्या हम घरवालों में हीरो बनना चाहते हैं। मनोहर इस समय भी पिए हुए था। वह जम्मू से पूरा कोटा अटैची में भर कर लाया था। उसकी अटैची में कपड़े कम और बोतलें ज्यादा थीं। मैंने मजाक में उसे कहा। "तुम्हारी अटैची मोबाइल-वाइन शाप लगती है," सुनकर वह हंसा।

"तुम पियोगे?"

"नहीं।" मैंने कहा।

"हां तुम कैसे पियोगे। कश्मीरी पंडित हो ना। धारा में कूदने का साहस कहां से लाओगे। पड़े रहो किनारे-किनारे।"

यह मनोहर की दारू बोल रही थी। संगत-असंगत एक साथ।

एक बार हिंदी दिवस के अवसर पर मैंने अपने कार्यालय में एक कविता सुनाई थी। उस कविता की कुछ पंक्तियां थीं-

"दुख नहीं है कि हम सुखी नहीं हैं
दुख नहीं है कि हम सुखी नहीं होंगे
दुख है कि जीवन भर किनारे किनारे चलते रहे हम...."

तब से वह इन पंक्तियों को कश्मीरी पंडितों का जीवनदर्शन मान बैठा था। वह जब भी मुझे मिलता, कहता, 'कैसे हो किनारे-किनारे?' और मैं प्रत्युत्तर में केवल हंसता। मेरी हंसी मेरी कायरता की प्रतिध्वनि बनकर कुछ देर माहौल में गूंज उठती।

बारिश फिर होने लगी थी। अब इस कालेज परिसर में थोड़े से कर्मचारी रह गए थे जो सरकारी गाड़ी का इंतजार कर रहे थे। आज से दो दिन बाद चुनाव हो रहा था।

गांव के हाईस्कूल में हमारा मतदान केंद्र था। वहां एक साथ तीन मतदान केंद्रों की व्यवस्था की गई थी। हमारे पहुंचने से पहले ही दो मतदान पार्टियां वहां पहुंच चुकी थीं। उन्होंने ही बताया कि पिछली रात स्कूल पर फायरिंग हुई थी। मिलिटेंटों ने निकट से सुरक्षाकर्मियों पर गोलियां चलाईं। दोनों ओर से काफी समय तक गोलियां चलती रहीं। आखिर जब सुरक्षा कर्मी ने हवा में सर्चलाइट का गोला फेंका तो वे भाग गए।

पोलिंग स्टेशन पर यह हमारी पहली रात थी। शाम होते ही कमरे में रोशनी नहीं जलनी चाहिए, यह सुरक्षा अधिकारियों का स्पष्ट आदेश था। इसलिए सूर्यास्त से पहले ही खा-पीकर अपने-अपने स्लीपिंग बैगों में घुस गए। मैं अपने

साथ ओशो की एक किताब भी लाया था। उसे सरहाने रखकर मैं नींद आने की प्रतीक्षा करने लगा। घर में भी सरहाने के पास डायरी और किताब रखकर सोता हूं मैं। इस बार मैंने चाहा ओशो मेरे सपने में आए और मुझसे बात करे। पर वह मेरे सपने में नहीं आए। पता नहीं अमृता प्रीतम के सपनों में कैसे आते हैं, क्या मेरी कोई पात्रता नहीं है? और मैं कुछ देर अपनी पात्रता के ही बारे में सोचता रहा।

आज चुनाव से पहले की अंतिम रात थी। आज भी मैंने स्वयं अपने सरहाने ओशो की किताब रखी और चाहा कि इस बार ओशो नहीं, मेरे सपने में स्वयं बुद्ध आएं। मेरे सर पर हाथ रखें और मुझसे पाली में नहीं कश्मीरी में बात करें। मैंने सोचा तब मैं उसे कश्मीरी मिलिटेंटों के पास ले जाऊंगा। जब अंगुलिमाल हिंसा छोड़ सकता है तो वे क्यों नहीं।

मैं कब सोया पता नहीं....

रात एक विचित्र सपना आया। सड़क के किनारे लाश पड़ी थी। मैं जब वहां से गुजरा तो मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वह लाश बुद्ध की थी। मैं घबरा कर दिशाहीन दौड़ा। कुछ देर बाद मैं फिर लाश के पास आया। लाश को फिर देखा पर यह क्या इस बार लाश बुद्ध की शक्ल में नहीं कृष्ण की शक्ल में दिखाई दी। अपने में ही सोचा, कहीं यह मेरी आंखों का दोष तो नहीं... लाश के पास ही बांसुरी पड़ी थी जो लहू से भीगी थी। मैं भयभीत होकर फिर दिशाहीन दौड़ा। कुछ देर बाद लौट आया। इस बार लाश के पास एक बच्चा देखा, जो रो रहा था। मैंने पूछा तुम क्यों रो रहे हो?

"मेरा पिता मर गया," वह बोला।

"कौन था तुम्हारा पिता?"

"बुद्ध... कृष्ण..., मोहम्मद...., ईसा..."

वह एक साथ बोला और कुछ देर बाद अदृश्य हो गया।

मैं जाग गया था और हड़बड़ी में पास रखे अपने बुलैट प्रूफ जैकट से टकरा

गया और मुंह से निकला, "मां...।" थोड़ा संभलने पर अपनी वास्तविक स्थिति का बोध हुआ। बाहर संतरी पहरा दे रहे थे और कुछ गुनगुना भी रहे थे...

कैसा विचित्र सपना था। खुदा की मौत का सपना। मैंने अंधेरे में ही डायरी में नोट किया। पैगंबर! बच्चा! हत्याएं...

आखिर चुनाव का बहुप्रतीक्षित सूर्योदय हुआ। हवा में फड़फड़ाते मतपत्रों की गंध फैलने लगी। लोग एक-साथ आए। उनके चेहरे पर डर और नाखुशी एक-साथ झलक रही थी। लोग अपनी उंगलियों पर लोकतंत्र का दाग लिए घर लौटने लगे।

मतपेटियां जमा कराने के बाद हम वापस उसी कालेज में लाए गए जहां हम पहले ठहरे थे। हमारे और साथी भी पहुंचने लगे। सबके चेहरे पर जीवित बचने की खुशी थी। रात मधुर गालियों और चुटकलों में बीतने लगी। कुछ गालियां लोकतंत्र के नाम भी दर्ज हुईं। हमारा एक साथी गाली-चुटकला विशेषज्ञ था। आज उसे पूरा अवसर मिल रहा था, हम हंसते रहे और उधर पीर-पुरोहितों की फजीहत होने लगी।

मुझे रात एक समलैंगिक सपना आया। इससे भी पूर्व कोई ऐसा सपना आया हो याद नहीं। मैंने देखा मैं पठान जैसे दिखते किसी आदमी की गिरफ्त में था और वह मुझसे अप्राकृतिक व्यवहार कर रहा था। मैं खुदा का वास्ता देकर अपने को उससे छुड़ाने की कोशिश कर रहा था। पर वह मुझ पर और क्रूर हो उठता। कुछ दूरी पर उसके हमशक्ल बंदूक लिए खड़े थे। चारों तरफ पहाड़ थे। झरनों का शोर था। बादल इस तरह बिखरे थे कि आकाश कहीं-कहीं नीला दिखाई दे रहा था। धीरे-धीरे पहाड़ मेरी आंखों से ओझल हो गए, झरनों का शोर थम गया और आकाश अदृश्य हो गया। सिर्फ कुछ कहकहे तथा अजनबी आवाजें कानों में सुनाई पड़ रही थीं।

मैं जब जाग गया तो पसीने-पसीने था। मैंने पानी पिया और अपने निकट सोए सुनील को जगाया। वह हड़बड़ी में उठा और पूछा, क्या है।

''मैंने बहुत ही खराब सपना देखा।''

''सुबह सुनाना! अभी सो जाओ...''

पर मेरी आंखों में नींद के नाम पर सपने में अर्जित लज्जा का आभास था।

सुबह जब हम जम्मू के लिए रवाना हुए तो वह पठान जैसे मेरा पीछा कर रहा था। मैं उससे बचने की अदृश्य कोशिश कर रहा था। सपने में कहीं उसकी यह बात रह रह के याद आ रही थी, ''अगले चुनाव में फिर आना....''

✲

कोख

वे तीन औरतें एक साथ दरगाह से निकलीं। उन्हें देखकर ऐसा लगता था कि जैसे वे अपने पीर के सामने खूब रोयी हैं। उन्होंने साधारण कश्मीरी मुलसमान औरतों वाला लिबास पहना था। फिरन और सर पर कसाबा? फिरन से उनकी हैसियत का पता लग रहा था। दरगाह के बाहर कई छोटी-छोटी दुकानें थीं। काफी कारोबार होता था इनमें। ऐसा कोई दिन नहीं होता था जब सौ डेढ़-सौ लोग यहाँ नहीं आते थे। आस-पड़ोस के गाँव में बड़ा नाम था इस दरगाह का। पीर के नाम पर तरह-तरह के ताबीज भी बिकते थे यहाँ। बेटा जनने से लेकर गाय के अधिक दूध देने तक हर किस्म के ताबीज मिलते थे यहाँ।

उन तीनों ही औरतों ने अलग-अलग दुकानों से ताबीज खरीदे और घर लौटने लगीं। उन्हें एक ही दिशा में चलते हुए देखकर यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता था कि वे आस-पास के गाँव में रहती होंगी।

आज धूप कुछ तेज थी। वैसे कश्मीर की धूप में काफी नमी मौजूद रहती है पर आज लग रहा था जैसे यह नमी किसी ने निचोड़ ली हो। काफी दिनों से बारिश भी नहीं हुई थी। धरती भी कुछ सख्त लग रही थी -लोगों के चेहरों की तरह। कुछ दूर चलने के बाद उनमें से दो औरतें सुस्ताने के लिए एक साथ बैठ गयीं, बिल्कुल एक-दूसरे के करीब। वह तीसरी औरत जो उनके पीछे-पीछे चल रही थी, उनसे तनिक दूर सुस्ताने के लिए बैठ गयी।

''तुम्हारा नाम क्या है?'' पास-पास बैठी उन दो औरतों में से एक ने कहा।

''साजिदा।''

''और तुम्हारा?''

''ताहिरा।''

दोनों एक-दूसरे के और करीब आ गयीं।

''कहाँ रहती हो?'' साजिदा ने पूछा।

''नदी के उस पार गाँव में।''

''मैं नदी के इस पार ही रहती हूँ। पठानों के मोहल्ले में।'' खुद ही साजिदा ने कहा।

''क्या तुम पठान हो?'' उसने दबे स्वर में पूछा।

''नहीं हम किसान हैं।'' जवाब मिला।

एक समय था जब कश्मीर में पठान को आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता था।

उन्हें तो मजाक में 'खर-पठान' तक कहा जाता था। पर अब बोलकर तो कोई दिखाये।

''सेब खाओगी?'' साजिदा ने पूछा।

''नहीं मन नहीं करता।'' ताहिरा ने उदास स्वर में कहा। साजिदा ने चाकू वापस फिरन की जेब में रख दिया। थोड़ा समय खामोशी में बीता। पर साजिदा को यह खामोशी कतई अच्छी नहीं लग रही थी। वह बात करना चाहती थी। कुछ कहना चाहती थी, कुछ सुनना चाहती थी।

''तुम्हारे घर में और कौन-कौन हैं?'' कुछ सुनने की इच्छा से पूछा उसने।

''अब कोई नहीं।'' यह कहकर ताहिरा ने ठंडी साँस ली।

''क्या मतलब?'' साजिदा का जैसे दिल बैठ गया।

''खाविंद बहुत पहले ही खुदा को प्यारा हो गया था। एक बेटा था वह भी...''

''क्या हुआ उसे?'' सचमुच घबरा रही थी साजिदा।

ताहिरा की आँखों से बेरोट-टोक आँसू छलक रहे थे। दुपट्टे से अपनी आँखें पोंछती हुई वह कहने लगी -

"मेरा बेटा (खुदा उसे जन्नत अता करे) एक ख्वाजा के यहाँ काम करता था। उस ख्वाजा के सेबों के बगीचे थे जिनकी सारी जिम्मेदारी मेरे ही बेटे पर थी। मेरा बेटा बड़ा मेहनती तथा नमक के प्रति वफादार था। जब कश्मीर में आतंक की हवा चलने लगी तो उस ख्वाजा को मुजाहिद काफी तंग करने लगे। बहुत सारा धन वसूलकर ले जाते थे। कहते थे आजादी के लिए बंदूकें खरीदनी हैं। ख्वाजा संतुष्ट था कि उसकी जान सपरिवार सलामत है।

एक दिन मुजाहिद किसी मुल्ला को साथ ले आये और ख्वाजा से कहा कि वह अपनी बेटी का निकाह उनके कमान्डर से करे। ख्वाजा के पांव के नीचे से जैसे धरती खिसकने लगी। भीतर एक ऐसा तूफान उमड़ आया कि जिसमें वह कहीं भी खड़ा नहीं हो पा रहा था। पर वह बड़ा अनुभवी तथा समझदार था।

"क्यों नहीं। आप हमारी आजादी के जाँबाज सिपाही हैं। इतनी कुर्बानी दे रहे हैं आप सब। मुझे इस निकाह से बड़ी खुशी होगी। पर मेरी एक इल्तिजा है।"

बड़ी हलीमी और सब्र के साथ वह कह रहा था।

"कैसी इल्तिजा!" उन में से एक ने पूछा।

"मैं अपनी बेटी से एक बार उसकी रजामन्दी पूछना चाहता हूँ। मुझे भरोसा है कि वह मेरी बात कभी नहीं टालेगी।"

"ठीक है पर अगर कोई बदमाशी की तो गोलियों से भून दिये जाओगे," एक दढ़ियल मुजाहिद बन्दूक की नली से छूते हुए उसे चेतावनी दे गया। मुल्ला के साथ सब लोग लौट गए।

ख्वाजा के लिए अब कोई विकल्प नहीं रह गया था। सिवाय घर छोड़ने के। वह अपने मकान की सारी चाभियां मेरे बेटे के हवाले कर गया और खुद अपने परिवार के साथ गाँव से दूर शहर में अपने रिश्तेदारों के यहाँ रहने लगा।

इधर मुजाहिदों ने ख्वाजा के बच निकलने का सारा गुस्सा मेरे बेटे पर उंड़ेल दिया। मुझे नहीं पता कि उन्होंने उसे क्या-क्या अजीयतें दीं। जब मुझे अपने

बेटे की लाश मिली उसका सारा बदन लहूलुहान था। उसकी कमीज से लहू भीगा एक कागज का पर्चा चिपका हुआ था जिस पर खून से लिखा हुआ था– 'मुखबिर'।

वह रोने लगी। उसे रोते हुए देखकर साजिदा भी रोने लगी। अब कौन किसके आँसू पोंछे। आखिरकार ताहिरा ने अपने फिरन के दामन से अपने आँसू पोंछे। पर साजिदा अब भी रो रही थी। उसके सफेद बाल हवा में जैसे काँप रहे थे।

''मेरा भी एक बेटा था...,'' वह रुक–रुककर कहने लगी।

''पुलिस महकमे में सिपाही था। परिवार के साथ शहर में रहता था। मेरे पास हर हफ्ते आता था। मुझे बहुत चाहता था। कहता था, 'तुम्हें हज जरूर कराऊँगा।' और एक दिन मेरे हज कराने वाले बेटे के मरने की खबर आयी। सारा गाँव मातम से भर गया। इतना मातम पहले कभी नहीं छाया था गाँव में। पेड़ भी सियाह दिख रहे थे। तीन दिनों के बाद उसकी लाश पुलिस गाड़ी से गाँव पहुँची। जालिमों ने उसके सीने में गोलियों से कितने छेद किए थे। कफन भी खून से तर हो रहा था। बेटा कौन सा लीडर था। कौन सा बड़ा अफसर था वह बेचारा। वर्दी उसका रोजगार थी और क्या खता थी मेरे उस बेटे की...'' और वह फूट–फूटकर रोने लगी। अपने आँसुओं से मानो वह अपने बेटे के कफन से लाल–लाल धब्बे धो रही हो।

इसी बीच वह तीसरी औरत जो उनसे तनिक दूर बैठी थी उनके पास आयी। उसकी आँखों में करुणा की जगह क्रोध उमड़ आया लगता था। आते ही उनके पास वह जैसे उन पर झपट पड़ी।

''तुम्हारे ही बेटों ने मेरे बेटे की जान ली है। तुम्हारा बेटा मुखबिर बना और मेरे मुजाहिद बेटे को पकड़वाया और तुम्हारे ही सिपाही बेटे की बन्दूक से मरा मेरा बेटा। हाय वह मेरा शाहजादा बेटा। कितने अरमान थे उसे लेकर मेरे। सब खत्म हो गया।'' यह कहते–कहते ही वह गिर पड़ी उन दोनों औरतों

पर। दोनों औरतों ने उसे ठीक से सरसब्ज घास पर लिटाया। उसे पानी पिलाया। हवा की। दोनों ने तलवे रगड़े। जब उसे होश आया तो सारी घृणा गायब थी। अब वे तीनों औरतें एक ही दुख के घेरे में खड़ी थीं।

कहने को वे तीन अलग-अलग औरतें थीं लेकिन उनकी कोख का दर्द एक था। समय अव्यक्त सम्वेदना में बीता जा रहा था। तीसरी औरत जिस का नाम खुर्शीदा था, अचानक उठ खड़ी हुई और कहने लगी –

"आओ दरगाह वापस चलते हैं।"

"लेकिन अब किसलिए?" दोनों औरतों ने एक साथ पूछा।

"दरगाह में उस बड़े पीर से पूछते हैं कि क्या उसका भी कोई बेटा मरा है...?"

☆

लड़ाई

यह मुझे बहुत पहले लिखना चाहिए था। मैं स्वयं नहीं जानता इतने बरस मैं इसे क्यों नहीं लिख पाया। शायद कोई दबाव रहा हो? या फिर आलस्य, नहीं तो अरुचि।

यह उन दिनों की बात है जब मैं गांव की प्रगतिशील सोच का नेतृत्व करता था और प्रोग्रेसिव यूथ नाम की हमारी एक संस्था होती थी। साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित सभी युवक हमारी इस संस्था के सदस्य थे। पूरे गांव में इस संस्था की धाक थी पर विरोध भी कम नहीं होता था।

उन दिनों हमारे गांव में सिर्फ एक चाय की दुकान थी जहां हम घंटों बैठकर बहसें किया करते थे। दुकानदार जहां हमारी बहसों से खीझता था, वहीं अपनी सेल से खुश भी था। यह 1975 के आसपास की बात है। मैंने बीए पास किया हुआ था और प्राइवेट एम.ए. की तैयारी में लगा था। एक छोटी सी दुकान भी चलाता था अपने पिता की। इसी दुकान से पड़ोस के गांव का एक सिख सिगरेट ले गया था। जब मैंने उसे अचरज से देखा तो वह बोला था, ''घर में मेहमान आए हैं, उन्हीं के लिए है।'' फिर वह सप्ताह में दो-तीन बार सिगरेट ले जाता था। मैं डर भी रहा था कि अपने सिख मित्रों से यह बात कैसे कहूं। एक बार साहस बटोर कर कह ही दिया। वे सिगरेट पीते उस सिख को पहले से ही जानते थे। वैसे भी कश्मीर में सिखों को यह कहकर चिढ़ाया जाता रहा है कि गुरु नानक ने उन्हें तमाह (कश्मीरी में तमाह लोभ को कहते है) छोड़ने को कहा और उन्होंने तम्बाकू छोड़ दिया। इस मज़ाक पर मैंने स्वयं सिखों को हंसते हुए देखा है। उन्हें यह सुनने की आदत सी हो गई थी।

मुझे याद है हमारी संस्था गांव में कश्मीर के प्रगतिशील लोगों का सेमिनार आयोजित करना चाहती थी। दरअसल इस सेमिनार के पीछे हमारा मंतव्य यह

था कि मुख्यधारा में शामिल हो जाएं। एक दिन जब हम अपनी इस भावी योजना पर गांव के उस अकेले चायघर में विचार कर रहे थे कि हमें बाहर कुछ शोर सा सुनाई दिया जो धीरे-धीरे बढ़ता ही जा रहा था। हम सब दुकान से बाहर आए और देखा कि हम से थोड़ी दूर लोगों की एक भीड़ घेरा डाल कर खड़ी है। हमने सोचा कोई बाजीगर होगा और अपने करतब दिखा रहा होगा। पर ऐसा कुछ भी नहीं था। घेरे में खड़े लोग कभी पीछे हट जाते, कभी ताली बजाते, कभी सीटियां और कभी पंजों पर उछलते।

"क्या है ये सब?" हमने दुकानदार से पूछा।

"दो बैलों की लड़ाई," उसने संक्षिप्त सा जवाब दिया और अपने काम में लग गया। हमने पढ़ा था कि स्पेन में बुलफाइट एक मशहूर खेल रहा है। शायद यह उनका राष्ट्रीय खेल भी है। पर कश्मीर में बुलफाइट के नज़ारे इस तरह दिखने लगे, ताज्जुब है। हां कभी-कभी यहां अपने सींग-दिखाने के लिए बैल जरूर लड़ते रहे हैं। हम से रहा नहीं गया। हम भी भीड़ में शामिल हो गए। मुझे अंग्रेजी का एक मुहावरा याद आया और मैंने अपने साथी बशीर से कहा –

"लाल रुमाल है?"

"किस लिए?" उसने पूछा

बैल लाल रंग से चिढ़ कर आक्रामक हो जाते हैं। मैंने कहा।

"अपनी पार्टी का झंडा दिखाएं?" उसने शरारती स्वर में कहा। मैं पहले हंसा और फिर कहा –

"रहने दो, वह झंडा इन मामूली बैलों के लिए नहीं है।"

भीड़ बढ़ती जा रही थी। इधर इन बैलों के अलग-अलग समर्थक हो गए थे। वे अपने समर्थन के उन्माद में चीखते, कूदते, चिल्लाते। लम्बी पूंछ वाला बैल जीतेगा। नहीं, छोटी पूंछ वाला बैल जीतेगा। करीब आधा घंटा बीत गया होगा। अब दोनों बैल कुछ थक से गए लगते थे। पर जब तक कुछ परिणाम

न निकले युद्धविराम स्वीकार नहीं था। भीड़ बराबर अपने मूड और उत्साह में थी। लड़ाई में फिर तेजी आ गई थी और इस बार लम्बी पूंछ वाले बैल ने ऐसा दांव मारा कि छोटी पूंछ वाले बैल के जैसे होश गुम हो गए। वह पस्त और सुस्त पड़ने लगा और वह रण छोड़कर भाग जाना चाहता था। इधर लम्बी पूंछ वाले बैल ने कुछ और ठान ली थी। उसने ऐसा वार किया कि शत्रु के नथुनों से खून बहने लगा। शाबाश ! समर्थक उछल रहे थे। इसी बीच एक ऐसी घटना घटी कि जिसने खेल का सारा मज़ा ही बिगाड़ दिया। भीड़ में से कोई नफरत भरी आवाज गूंजी, ''नहीं ऐसा नहीं हो सकता। काफिरों का बैल हमारे बैल को नहीं हरा सकता।'' इस आवाज को कुछ और आवाजों का बल मिला। देखते ही देखते जिसे जो कुछ मिला, वह उसे लम्बी पूंछ वाले बैल पर मारने लगा। परिस्थितियों को अपने विपरीत सूंघ कर वह बैल वहां से एक दम भागने लगा। पर पूरे गांव में उसे कहीं पनाह नहीं मिली। उन्मादी उसके पीछे-पीछे दौड़ रहे थे।

आखिरकार बैल गांव के मरघट की भूमि में दाखिल हुआ जैसे वह जानता हो कि उन्मादी यहां उसका पीछा नहीं कर सकते। गांव के मुसलमानों का यह विश्वास था कि जो मरघट की दीवार लांघ जाएगा, उस पर खुदा का कहर टूटेगा। अत: वे उस बैल को मरघट भूमि में ही छोड़कर लौटने लगे। काफिरों के बैल को पीटने का सुख उनके चेहरे पर साफ दमक रहा था।

इतने बरसों के बाद आज जब यह किस्सा याद आया तो अपने उस दोस्त की याद आना भी स्वाभाविक है जो मेरा पक्का दोस्त भी था और पक्का मुसलमान भी। कभी-कभी वह मुझ पर इस्लाम की ताकत का रौब भी डालता था। मुझे याद है इस घटना को लेकर मैंने उससे विनोद के स्वर में कहा था -

''धर्म बचाना है तो अपने बैल को ताकतवर बनाओ।''

वह मेरी इस बात पर ज़ोर-ज़ोर से हंसा था।

☆

अस्थियों का सौदा

बोन्यमाल ने जीवन में कभी रेल नहीं देखी थी। उम्र अस्सी पार हो चुकी थी पर यह संयोग नहीं मिल पाया था। जीवन संघर्ष ने उसे इतनी फुर्सत ही कहां दी थी कि लम्बी यात्रा पर निकल जाए। वैसे भी कश्मीर में रेल कहां थी। जम्मू विस्थापित होकर बोन्यमाल को पहली बार रेल देखने का अवसर मिला था। रेल देखकर वह सचमुच ही अभिभूत हो उठी थी। मासूमियत में उसके मुंह से निकल पड़ा था –

''क्या रेल-डिब्बों के अलग-अलग ड्राइवर होते हैं?''

''हां होते हैं ना! वह देखो उधर वे काले कोट वाले।''

''यही होते हैं रेल-डिब्बों के ड्राइवर।'' नाती तान्या ने विनोद के स्वर में कहा। तब साथ वाले हंस पड़े थे।

आज पहली बार बोन्यमाल रेल देखने स्टेशन आई थी। उस का पोता पुणे में इंजीनियर था और विवाह के बाद अपनी पत्नी के साथ पुणे वापस जा रहा था। उन्हें ही विदा करने के लिए सारे परिवार वाले स्टेशन आए थे। बोन्यमाल ने जिद की थी नहीं तो यह अवसर भी नहीं मिलता।

सिगनल डाऊन हुआ। प्लेटफार्म पर काफी हलचल हुई। लोगों के हाथ हिलने लगे बोन्यमाल ने देखा कि उसका बेटा बद्री और बहू भी हाथ हिला रहे थे। नाती तान्या भी हाथ हिला रही थी। बोन्यमाल ने भी अपना हाथ हिलाना शुरू किया। धीरे-धीरे रेल आंखों से ओझल हो गई। हिलते हुए हाथ रुकने लगे। पर बोन्यमाल अभी भी हाथ हिलाए जा रही थी।

''रहने भी दो अब नानी! नहीं तो हाथ दर्द करने लग जाएंगे,'' तान्या ने नानी को चिढ़ाने के उद्देश्य से कहा।

"क्या तुम ने अपनी नानी को इतना कमजोर समझ रखा है। कभी अपनी मां से पूछना कि कितना दमखम था। मुझ में..."

"मैं जानती हूं नानी! तभी तो आज भी डाबर च्वनप्राश रोज खाती हो।"

"चल तानी कहीं की।" नानी तान्या को तानी कहकर पुकारती थी। कश्मीर में तानी के अर्थ बडबोली होते हैं।

जबसे बोन्यमाल ने रेल देखी उसमें रेल यात्रा की चाह जग गई। वह अपने बेटे से हरिद्वार जाने की इच्छा प्रकट करने लगी। दरअसल गंगा नहाने का पुण्य और रेलयात्रा का सुख वह एक साथ अर्जित करना चाहती थी।

एकदिन सचमुच बद्री हरिद्वार की रेल टिकट ले आया। वह मन ही मन मां की खुशी का अनुमान लगा रहा था। घर पहुंचते ही उसने मां को बता दिया।

"सच बद्री?" मां ने कहा।

"हां मां! इस बार माघ- पूर्णिमा का स्नान हम गंगा जी में ही करेंगे।"

"मां भवानी तुम्हें भी अपने बेटों का सुख दे,"

यह सुनकर बद्री की आंखों में आंसू छलक आए। उसके दो बेटे थे। दोनों आंखों से दूर और जीवन-संघर्ष में उलझे हुए। ऐसे में उनसे अपेक्षाएं रखना अन्याय ही होता। फिर भी शिवरात्री पर जब दोनों बेटे घर आते तो बद्री की खुशी का कोई ठिकाना नहीं रहता। वह अपनी पत्नी से कहता कि उन्हें खिलाने-पिलाने में कोई कसर न रखे। यह भी कहता कि बड़े शहरों के सुख नहीं दुख होते हैं।

हरिद्वार जाने की पूरी तैयारी हो रही थी। बोन्यमाल ने अपने तीन जोड़े फिरन और साथ पहनी जाने वाली कुछ अन्य चीजें अटैची में रखवा दीं।

"मेरी एक बात मानोगी मां?" बद्री डरते-डरते कह रहा था।

"बोलो बद्री।"

"तुम अब यह फिरन पहनना छोड़ दो और साड़ी पहनो। बहुत अच्छा लगेगा। मैं तुम्हारे लिए कुछ अच्छी साड़िया ला दूंगा। यात्रा में फिरन पहने हुए

देखकर लोग तुम्हें अजीब नजरों से देखेंगे। तब मुझे अच्छा नहीं लगेगा। यह अब हमारे नए मौसम का लिबास नहीं रहा।''

''क्या तुम मजारबल से आए हो? तमाम उम्र जिसे पहना उसी लिबास को छोड़ दूं,'' मां ने सरोष कहा।

''मां यह क्या कह रही हो?''

''और नहीं तो क्या! अपनी मां से कपड़े उतरवा रहा है।''

''नहीं मां, तुम यूं ही बुरा मान गई।''

जो नहीं होना था वही हुआ। अभी यात्रा में तीन दिन शेष थे। बोन्यमाल और उसकी नाती तान्या घर में अकेले थे। बद्री और उसकी भार्या किसी रिश्तेदार को अस्पताल देखने गए थे। वहीं से उन्हें बाजार भी जाना था। दरवाजे पे घंटी बजी। बोन्यमाल ने तानी को पुकारा। वह पहले से ही दरवाजा खोलने अपने कमरे से बाहर निकल आई थी।

''कौन?'' बोन्यमाल ने पूछा

''कादिर अंकल'', तान्या ने जवाब दिया।

''सलाम माहरा'', कादिर जू ने दरवाजे पर खड़े होकर जोर से कहा जैसे वह बहरी हो।

''सलाम'', बोन्यमाल ने जवाब दिया वह झट से उसे पहचान गई थी। वह जूते उतार कर बोन्यमाल के ही पास बैठ गया। इधर-उधर की बातों के बीच बोन्यमाल ने पूछा कैसे आना हुआ कादिर जू। बातों-बातों में बोन्यमाल को यह पता लगा कि उसने उनका पुश्तैनी मकान खरीद लिया है। उसी मकान के पक्के कागज बनाने वह जम्मू आया हुआ था। वह भीतर ही भीतर कांप उठी। आत्मा बेचैन हो उठी। गुस्सा उबलने लगा। किसी ने उसे बताया तक नहीं। आज पहली बार उसे लगा जैसे किसी ने उस की आंखों के जल और पति की अस्थियों का सौदा एक साथ कर लिया हो। कादिर जू ने बोन्यमाल की भावाभिव्यक्तियां भांपीं तो भीतर ही भीतर डर गया। कहीं सस्ते में हथियाया सौदा हाथ से न निकल जाए। वह नाटकीय अंदाज से अलविदा लेकर वहां से निकल आया।

कादिर जू के जाते ही बोन्यमाल ने तानी से कहा।

"तानी! अटैची से मेरे सब कपड़े निकाल लो।"

"क्यों नानी?" तानी ने पूछा।

"मैं अब हरिद्वार नहीं जाऊंगी।"

"क्या तबियत खराब हो गई?"

"तुम्हारे नाना का घर बेच दिया गया और मुझे किसी ने बताया तक नहीं। शायद उन ही पैसों से मुझे तीर्थ यात्रा पर ले जाया जा रहा है।" बड़े ही घृणित स्वर में कहा उसने।

"यह तुम से किसने कहा?"

"कादिर जू बता रहा था... चार लाख में खरीद लिया उसने।"

तान्या ने लाख समझाने की कोशिश की पर बोन्यमाल का चढ़ता हुआ पारा फिर सामान्य पर नहीं आ सका। रात को बद्री ने भी बहुत चांपे पांव पर मां पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा। बहू ने भी लाख मनाया पर सब बेकार।

आधी रात के बाद तान्या ने बुरा सपना देखा। डर के मारे वह जाग गई। अंधेरे में उसे कुछ कराहने की आवाज सुनाई दी। वह हड़बड़ी में उठी और बत्ती जलाई। नानी दर्द से कराह रही थी। वह एकदम मामा-मामी को जगाने दूसरे कमरे में गई। बद्री और उसकी पत्नी जब मां के कमरे में आए तो देखा वह अपने सिर को थामे कुछ बड़बड़ा रही थी। आंखें तनिक बाहर निकल आई थीं।

"क्या हुआ मां?" बद्री ने पूछा।

"अब मेरी एक ही इच्छा है..." वह सिर को थामे हुए कुछ कहने का प्रयास कर रही थी।

"बोलो मां।"

इससे पहले कि वह कुछ बोल पाती वह निष्चेष्ट हो गई। बद्री के मुंह से निकला "मां..."

काफी हिलाने डुलाने के बाद भी वह होश में नहीं आई। इस नश्वर शरीर को यहीं छोड़कर वह किसी लम्बी यात्रा पर निकल चुकी थी। शायद अपने पुरखों को यह बताने कि सुना तुमने... तुम्हारी अस्थियों का सौदा हो गया।

शोक के दिन पूरे हुए। घर-गृहस्थी फिर सामान्य हुई पर बद्री अब मानसिक रूप से अशांत रहने लगा। कभी-कभी वह अपनी मां के चित्र के पास जाकर यह कहता-

"बोलो मां! तुम्हारी अंतिम इच्छा क्या थी?" तब तान्या उसे अपने कमरे में ले जाती। वह अपनी मीठी आवाज में मास्टर ज़िन्दा कौल की कविता सुनाती-

स्मरण पननुॅन्य दिचानम
प्रेमुक निशान व्यसिये
रॅछ़रून तो गुम न रोवुम
ओसुम न बानु व्यसिये...

मुझे उसने दी थी अपने प्रेम की निशानी पर मुझ में नहीं थी पात्रता उसे सम्भाल -रखने की।

(हिन्दी अनुवाद)

बद्री को हमेशा इस कविता से सांत्वना मिलती थी।

☆

उदास ईश्वर की कथा

अचानक मंदिर के भीतर कुछ हलचल हुई। आधी रात का पहला ही प्रहर था। सिपाही ने मंदिर के द्वार की तरफ टार्च घुमाई। मंदिर का द्वारा बंद था और ताला यथावत। वह कुछ निश्चिंत हुआ। थोड़ी देर बाद फिर वैसी ही हलचल हुई। इस बार सिपाही ने मन ही मन सोचा कि कोई उपद्रवी चूहा अकेले-अकेले भगवान के प्रसाद का सुख लूट रहा होगा। पर लूटता रहे उसका क्या। चूहों पर नज़र रखना उसकी ड्यूटी नहीं। वैसे भी इन हरामखोर चूहों को धार्मिक संरक्षण जो मिला हुआ है। उसे याद आया बचपन में अक्सर वह अपने पिता से कहा करता था कि गणपति को वाहन के रूप में छोटा सा चूहा ही क्यों मिला है। तब पिता जवाब देता,"गणपति ईश्वर है, उसके चूहे को छोटा मत समझ। छोटी होती है उसको देखने वाली आंख।" मैं प्रतिवाद में कुछ कहता तो पिता तुरंत डांट देते। कहते कि उम्र अभी कच्ची है आगे जाकर सब समझ जाओगे। आज जब मैं 50 बरस का हो गया हूं तो भी गणपति बप्पा के चूहों के प्रति मेरे मन में कोई आध्यात्मिक भाव पैदा नहीं हुआ है।

मंदिर में फिर हलचल हुई। इस बार सिपाही को लगा कि जैसे मंदिर के भीतर कोई चहलकदमी कर रहा है। वह मंदिर की सीढ़ियां चढ़ा और बंद द्वार की सलाखों से भीतर झांकने लगा...

"यह क्या...?" उसके मुंह से चीख निकली। मूर्ति अपने स्थान पर नहीं थी। उसने ताला खोला और जाकर इधर-उधर देखने लगा। सचमुच मूर्ति अपने स्थान पर नहीं थी। उसे विश्वास नहीं हो रहा था। उसे लगा, शायद यह उसका मतिभ्रम हो। कहीं उसे देखने में भूल तो नहीं हुई है। पर आज उसने शराब की

एक बूंद भी नहीं चखी थी। वह बहुत घबराया। इस आतंककाल में ईश्वर भी अब सुरक्षित नहीं रहा। उसने मंदिर का द्वारा बंद किया और अपने साथियों को सूचित करने के उद्देश्य से सीढ़ियों की ओर मुड़ा ही था कि पीछे से एक आवाज आई –

''अपने साथियों को सूचित करने की कोई जरूरत नहीं। मैं मंदिर में ही हूं...''

सिपाही वापस मुड़ा और उसके मुंह से तत्काल निकला–

''कहां?''

''मंदिर में अपनी जगह।''

सिपाही ने खुली आंखों से दुबारा देखा। मूर्ति सचमुच अपनी जगह पर थी। उसने कंधे से बंदूक उतारी और मूर्ति के सामने नतमस्तक हुआ और दीन-हीन स्वर में कहने लगा –

''धन्यवाद ईश्वर! आज तुमने मेरी नौकरी बचा ली।''

''पर तुम तो अपनी ड्यूटी दे रहे थे,'' मूर्ति बोली।

''पर तुम मंदिर से गायब हो जाते तो फिर कौन मानता। सब इसे मेरी ही भूल-चूक समझते।'' मूर्ति चुप रही।

''अब ऐसा भद्दा मजाक कभी मत करना। नहीं तो मेरी रोज़ी-रोटी छिन जाएगी और मेरा परिवार भूखों मरेगा।'' सिपाही दोनों हाथ जोड़े कह रहा था।

''तुम निश्चिंत रहो सिपाही... पर मेरी एक शर्त है।''

''कैसी शर्त?''

''मैं जो पूछूं उसका उत्तर देना पड़ेगा, जो कहूं उसे सुनना पड़ेगा...''

''जैसी आज्ञा प्रभु।''

''आओ फिर मेरे और निकट आकर बैठो।''

सिपाही आज्ञा शिरोधार्य कर मूर्ति के सामने पालथी मारकर बैठ गया। और मूर्ति बोलने लगी...

''सुनो सिपाही! मैं उनका ईश्वर हूं जिन्हें अपनी मातृभूमि से निष्कासित

होना पड़ा। सदियों से उन्होंने मेरी पूजा की है और मैं भी उनकी भक्ति का मान रखता था। वे कभी मुझे लड्डू खिलाते, कभी पीले चावल, कभी दूध, कभी खीर। कभी मुझे अत्यधिक प्रसन्न करने के लिए मंदिर पर नया रंग रोगन भी चढ़ाते। उनके मांगने की वृत्ति से मैं कभी उदास भी हो जाता लेकिन क्या करता... उन्हें बस मेरा ही आसरा जो था। वे मेरे सामने आंसू बहाते, दामन फैलाते और अपने बच्चों के लिए मांगते रोज़गार। अनब्याहे बेटे-बेटियों के लिए अच्छे-अच्छे वर। जर्जर मकानों की जगह पुख्ता मकान। बहुत कुछ मांगते और...। वे भी क्या दिन थे जब मेरे आंगन में भक्त जनों की अपार भीड़ जुड़ती थी। संगीत और नृत्य होता था। पर अब मैं बहुत अकेला हो गया हूं।''

''क्षमा करें ईश्वर,'' सिपाही ने बीच में टोकते हुए कहा-''तुम अकेले कैसे हो सकते हो? तुम सर्वशक्तिमान हो... अंतर्यामी हो... जगत के पालनहार हो... यह सृष्टि तुम्हारी है, नक्षत्र तुम्हारे हैं... यह पृथ्वी तुम्हारी है... हम सब तुम्हारे हैं...''

''झूठ! कोरा झूठ।...'' ईश्वर का गुस्सा बोल रहा था।'

''मैं अकेला ही नहीं, शक्तिहीन भी हो गया हूं। मेरे नाम पर लोग धरती का बंटवारा करते हैं, हत्याएं और लूटपाट करते हैं, बस्तियां जलाते हैं... लोगों को अपना वतन छोड़ने पर मजबूर करते हैं और मैं यह देखता रहता हूं... जैसे मैं कोई ईश्वर ही नहीं...।'' यह कहते हुए ईश्वर बहुत उदास हो गया था। कुछ समय मौन में बीता और फिर वह सिपाही के और करीब आकर कहने लगा, ''मेरी एक बात मानोगे सिपाही?''

''कौन सी बात?''

''कुछ दिनों के लिए मैं सिपाही बन जाता हूं और तुम मूर्ति बन जाओ।''

''नहीं ईश्वर! मुझे क्षमा करें...''

''लेकिन क्यों?''

''क्योंकि मुझे भी अकेलेपन से बहुत डर लगता है।''

☆

आंच

जनवरी का एक दिन।

सचमुच अब गिरती हुई बर्फ से डर लग रहा था और यदि इसी गति से बर्फ गिरती रही तो क्या पता अगली सुबह हम देख भी पाएंगे या नहीं? हमारी बस जहां रुकी हुई थी, वहां से जवाहर टनल चार-पांच किलोमीटर ही दूर थी। बर्फ के कारण वाहन सड़क के दोनों तरफ फंस गए थे। अगले दो-तीन रोज में रास्ता खुलने की संभावना कतई नजर नहीं आ रही थी।

''हमें घर से नहीं चलना चाहिए था...,'' मेरी बगल वाली सीट पर बैठा यात्री अपने साथी से कह रहा था।

''हां, लेकिन सुबह तो सिर्फ थोड़ी सी बारिश ही हो रही थी।'' वह बोला।

''कश्मीर के आसमान का क्या भरोसा...?''

''सचमुच! बहुत फरेबी आसमान है...।'' मैं यह सुनकर हंसा।

''आप क्यों हंसे, जनाब!''

यात्री ने मुझसे पूछा।

''यूं ही।'' मैंने जवाब दिया।

''कुछ तो बात है पंडित जी।''

मुझे उसके 'पंडित जी' सम्बोधन को सुनकर थोड़ा डर लगा। लिबास और दाढ़ी से तो मैं मुसलमान जैसा ही दिखता हूं। फिर भी उसने मुझे पहचान लिया। शायद बात करने के मेरे लहजे से... पर अभी तक तो मैंने उससे कोई बात भी नहीं की थी। इस वक्त जहां हम थे वह वेरीनाग के आस-पास का क्षेत्र था। वही वेरीनाग जिसकी सुंदरता पर मुग्ध होकर मुगल सम्राट जहांगीर ने यहां मरने की इच्छा व्यक्त की थी। वैसे सच बात बताऊं, पूरी मुगल सल्तनत में मुझे दो

ही सम्राट प्रिय लगते हैं एक बाबर और दूसरा जहांगीर। बाबरनामा तो मेरा प्रिय ग्रंथ ही रहा है। अभी पिछले दिनों जब मैंने बाबर पर रूसी उपन्यास पढ़ा तो मैं और बाबरपरस्त हुआ। जहांगीर की रूमानियत का शुरू से ही मैं कायल रहा हूं...

''पंडित जी! बोलोगे नहीं कि तुम क्यों हंसे!''

अजीब मुसीबत में फंस गया। वैसे देखने में वह व्यक्ति शरीफ लग रहा था। चेहरे पर हल्की सी काली दाढ़ी थी जो उसकी आस्था का प्रतीक चिन्ह सा दिखा रही थी। व्यक्तित्व में किसी भी तरह की कठोरता का आभास नहीं झलकता था...

बाहर तिरछी बर्फ गिर रही थी। ठंड भी बढ़ने लगी थी। आज की रात इसी बस में काटनी पड़ेगी। अब दिन भी बीत चला था और अंधेरा धीरे-धीरे पसरने लगा था।

''सिगरेट पियोगे, पंडित जी'' सहयात्री ने पूछा।

''नहीं? – मैं सिगरेट नहीं पीता...''

''फिर सेब ही खाओ।''

उसने अपने बैग से दो सेब निकाले और मुझे दिए। अब मैं इंकार नहीं कर सकता था।

सड़क पर कुछ फौजी बूटों के बर्फ पर चलने की आवाजें आ रही थीं। वे चारों तरफ रोशनी फेंक रहे थे और साथ ही ये निर्देश भी दिए जा रहे थे कि सोना मत। पिछले साल ऐसी ही बर्फ में कई वाहन दब गए थे।

मैंने घड़ी देखी। अभी सिर्फ सात बज रहे थे।

''या खुदा! हमें इस बर्फ के कहर से बचा'', मेरे आगे बैठे यात्री ने दुआ में हाथ जोड़े।

''तुम भी अपने भगवान से कुछ मांगों ना पंडित जी'', यह मेरी बगल वाली सीट का यात्री बोल रहा था। मैंने अपनी आंखें बंद कीं और सचमुच कुछ बुदबुदाया।

अंधेरे में बर्फ गिरती जा रही थी। मैंने खिड़की का कांच थोड़ा सरका कर अपना दायां हाथ बाहर किया। कुछ ही पलों में त्वचा सफेद हो गई। मतलब साफ था। बर्फ अभी थमने वाली नहीं थी। कहीं यह हमारी आखिरी रात तो नहीं। बर्फ दिखने में हल्की मुलायम भले ही लगे पर जम जाए तो बड़े-बड़े योद्धा घुटने टेक दें।

पुराने दिनों में लोग इस पहाड़ी रास्ते से पैदल ही सफर किया करते थे। तब मोटर गाड़ियों के लिए रास्ता नहीं बना था। उन दिनों रास्ते में कितनी मौतें होती थीं। बर्फ में एक अजीब सम्मोहन होता है जो आदमी को अपनी ओर खींचता रहता है। इसी सम्मोहन में लोग फंस जाते और जान गंवा बैठते। मैंने अपने पिता से ऐसी कई बर्फ-मौतों के किस्से सुने हैं। वे खुद कई बार ऐसी यात्राओं से मौत को चकमा देकर लौटे हैं। मैंने पिताजी से यह भी सुना है कि पीर पंजाल के कौवे आनन-फानन में लाश को चट कर जाते हैं। क्या हिंदू क्या मुसलमान सब पीरपंजाल के कौवों से डरते थे।

बाहर फिर कुछ रोशनियां दिखाई दीं। पर इस बार वे सुरक्षा कर्मियों की रोशनियों जैसी नहीं थीं। दूर से ऐसे लग रहा था जैसे कुछ लोग लालटेन जैसा कुछ लिए हमारी तरफ बढ़ रहे हैं। वे रोशनियां हमारी तरफ बढ़ती ही जा रही थीं और हमें यह आभास हो रहा था, शायद बर्फ हटाने वाले मजदूर काम के लिए बुलाए जा रहे हैं। कुछेक यात्रियों ने अपनी खिड़कियों के कांच सरका दिए। बर्फ बदस्तूर गिर रही थी। रोशनियां पास आती गईं। लोग जाने-पहचाने से दिखने लगे। वे इस बर्फ में वाहनों में फंसे लोगों की मदद के लिए आये थे। हमने सुना वे कह रहे थे...

''हम पास के गांव से आए हैं। हमारे साथ चलिए। हमने आपके खाने और ठहरने का इंतजाम कर लिया है। रास्ता न जाने कितने दिन बंद रहे। मस्जिद खुदा का घर है। वहां सबके लिए जगह है। कोई भूखा न रहे... ठंड के कारण अपनी जान न दे... हमने सब इंतजाम कर लिया है। हमारे साथ चलिए वरना खुदा हमें कभी माफ नहीं करेगा।''

गांव ज्यादा दूर नहीं था। हमारी बस से बमुश्किल आधा किलोमीटर। मैं अपने सहयात्री के साथ चल रहा था। मुझे चलते हुए 1990 की वह भयानक रात याद आ रही थी। 19 जनवरी की वह रात जब खुदा के ऐसे ही घरों से लाऊडस्पीकर गरज रहे थे और हमारे घरों की सांकलें हिल रही थीं। सब कुछ आंखों के सामने दृश्यमान हो रहा था।

स्मृतियां भी अजीब होती हैं जब आदमी इनसे मुक्ति चाहने लगता है तो ये चिपकी रहती हैं। 1990 में जो कुछ हमारे साथ बीता, वह हमारा अतीत है। इतिहास का एक पन्ना। ऐसे कितने ही पन्नों से भरा रहता है इतिहास। मैं मानता हूं इतिहास पढ़ना बहुत जरूरी है पर उसे याद रखना हिंसा है। इतिहास बोध का अर्थ यह तो नहीं हम प्रतिशोध का या हिंसा का, नया इतिहास लिखें।

...हम जब मस्जिद पहुंचे तो वहां पहले से ही कुछ लोग जमा थे। हमारे वहां पहुंचते ही उन्होंने हमें कम्बल दिए। गर्मागर्म कांगड़ियां दीं। हमने कहवा पिया। कुलचे खाए। कुछ महिलाएं भी दिखीं। खाने-पीने की चीजों का सब इंतजाम वे ही कर रही थीं। हमने भरपूर खाना खाया। प्याज और आलू के मेल में गज़ब का स्वाद होता है। वह भी जिस तरह कश्मीरी मुसलमान बनाते हैं।

रात के दस बज चुके थे। अब मस्जिद में कुछेक गांव वाले ही रह गए थे। शेष अपने-अपने घर जा चुके थे। बाहर का मौसम भले ही ठंडा हो लेकिन मस्जिद के भीतर इंसानी जज़्बों की गर्मी फैल चुकी थी। फिर सकून की नींद किसे नहीं आती। सुबह जब आंख खुली तो बर्फ थम चुकी थी। धरती का रंग श्वेत हो गया था। पेड़ों पर बर्फ के फूल खिल गए थे। आसमान शांत था। हवा में एक उजली सुबह की धूप का वादा दिख रहा था। नमाज़ी एक-एक करके मस्जिद में आने लगे थे।

"पंडित जी! कैसे कटी रात?" मेरा सहयात्री पूछ रहा था।

"बहुत उम्दा..." मैंने जवाब दिया

"सपने में कोई मुजाहिद तो नहीं आया?"

मैं चुप रहा। थोड़ा हंसा। मुझे पूरा भरोसा था कि इस बार वह नहीं पूछेगा–
"पंडित जी! तुम क्यों हंसे...!"

पर काश मैं उसे रात का सपना सुना पाता। कैसा अनोखा सपना था। वह मीलों बर्फ में पैदल चलकर मेरे पास आया था। उसने मेरे कंधे पर अपना हाथ रखा। उसके स्पर्श से मेरी रूह ताज़ा हो गई।

"तुम कौन हो अजनबी?" मैंने पूछा। वह ठिठक गया। बोला– "मुझे नहीं जानते। मैं रसुलमीर हूं..."

"शायर रसुलमीर।" मेरे मुंह से अनायास निकला।

"हां शायर रसुलमीर" मैं उसे देखता ही रह गया। कैसे नहीं देखता। हुस्न और मोहब्बत का शायर मेरे सामने खड़ा था।

"सुना है मेरी कोंगमाल लू से मर गई है।" उसका स्वर उदास था।

"नहीं! उसे सांप ने काटा..."

"कैसे?"

"वह सांप उसके तकिये के नीचे छिप गया था।"

"क्या उस सांप को किसी ने नहीं मारा?" प्रत्युत्तर में एक दीर्घ चुप्पी। रसुलमीर गहरी सोच में पड़ गए। सोचते–सोचते वह रोने भी लगे –

"कोंगमाल मेरी मोहब्बत थी। मेरी रुह का आईना थी।"

ऐ मेरे नग्मे गाने वाले लोगो! क्या तुम्हारा फर्ज नहीं था कि मेरी कोंगमाल को बचाते। उसके परिवार को हिजरत करने से रोकते?" रसुलमीर रोता ही रहा मेरे सपने में। वह शर्मसार दिख रहा था जैसे उसके ही कारण कोंगमाल के परिवार ने हिजरत की हो... अद्‌भुत सपना था यह।

जम्मू पहुंचकर मैं सबको सुनाऊंगा अपना यह सपना...

"पंडित जी! क्या तुम्हें हमारे बीच कोई डर लगा?" सहयात्री पूछ रहा था।

"नहीं!" मैंने अपना डर छिपाते हुए कहा।

इस बार मेरा सहयात्री हंसा और कहने लगा "तुम झूठ बोल रहे हो पंडितजी।" और मैं चुप रहा क्योंकि मेरी चुप्पी में ही छिपा था मेरा सच।

☆

परिचय

नाम : महाराज कृष्ण संतोषी

जन्म : 15 जून 1954 (कश्मीर)

शिक्षा : एम.ए. अंग्रेजी साहित्य (पंजाब युनिवर्सिटी से)।

विधिवत लेखन सन् 1975 के आस-पास शुरू किया।

अभी तक चार कविता संग्रह प्रकाशित

- इस बार शायद (1980)
- बर्फ पर नंगे पांव (1993 पुरस्कृत)
- यह समय कविता का नहीं (1996)
- वितस्ता का तीसरा किनारा (2005 पुरस्कृत)

देश की सभी महत्वपूर्ण पत्रिकाओं में कविताएं तथा कहानियां प्रकाशित। कुछ रचनाओं के अनुवाद अंग्रेजी, पंजाबी, बंगाली तथा कश्मीरी में। कुछ अनुवाद भी प्रकाशित। विगत 19 वर्षों से शरणार्थी जीवन जीने को बाध्य।

ई-मेल पता : mk_santoshi@rediffmail.com

113-ए/4, आनंद नगर, बोड़ी (तालाब तिल्लो),

जम्मू तवी-180002, फोन : 0191-2505033

unistarbooks.com

UNISTAR BOOKS PVT. LTD.
INDIA

Chandigarh : 26-27 Top Floor, Sector 34A
Ph.: +91-172-5077427, 5077428, 5089761
Ludhiana : Punjabi Bhawan • +9198154 71219

ISBN 81-7142-939-4

9788171429394

Rs. 150/-